

TEXT DARK **WITHIN**
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186146

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 370/B11B Accession No. G.H. 1414

Author बाबू राजेन्द्र प्रसाद

Title भारतीय शिक्षा | 1953

This book should be returned on or before the date last marked below.

भारतीय शिक्षा

भारतीय शिक्षा

राजेन्द्र प्रसाद

दिल्ली
आत्माराम एण्ड संस
१९५३

प्रकाशक

रामलाल पुरी

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

सर्वाधिकार राजेन्द्र प्रसाद ग्रन्थावली ट्रस्ट के अधीन
मूल्य ३)

मुद्रक

अमरजीतसिंह नलवा

सागर प्रेस

काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

निवेदन

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का यह संग्रह पाठकों के सामने रखने में हम जिस आनन्द और आत्मगौरव का बोध कर रहे हैं, कहते नहीं बनता ।

गोस्वामी तुलसीदास ने ऐसे अवसरों के लिये कहा था—

उर अनुभवति न कह सक सोई ।

कवन प्रकार कहे कवि कोई ॥

राष्ट्र के निर्माण में राष्ट्रपति का जो योग है, राजनीति, समाज-नीति, शिक्षा और संस्कृति के हर क्षेत्र में उनकी जो देन है, हमारे पाठक उससे भली भाँति परिचित हैं । कस्तूरी की गन्ध शपथ से नहीं जानी जाती । इस उक्ति के अनुसार हम और अधिक क्या कहें ? महापुरुष की वाणी कुछ समय बीत जाने पर भावी पीढ़ी के लिये बराबर शास्त्रवाणी बनती गई है । शिक्षा और संस्कृति के सिद्धान्त जो हम इस ग्रन्थ के रूप में पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं, आगे चलकर शास्त्रवाणी का काम देंगे ऐसा हमारा विश्वास है ।

२५ नवम्बर, १९५३

विनीत

प्रकाशक

प्रवृत्त की ओर से

आनन्द राममत्यर्थ

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

(नवीन शिक्षा-पद्धति)

विषय	पृष्ठ
१. शिक्षा-व्यवस्था का पुनर्निर्माण	३
२. विश्वविद्यालय और सामाजिक कल्याण	६
३. शिक्षा का माध्यम	१६
४. शिक्षा और सामञ्जस्य	२३
५. शिक्षा की नयी रूपरेखा	३४
६. शिक्षा और आत्मविद्या	४१

द्वितीय खण्ड

(प्राचीन शिक्षा-पद्धति)

१. राष्ट्रीय शिक्षा	५३
२. नारी-शिक्षा का आवर्ष	५७
३. शिक्षिता नारी का दायित्व	६२
४. गुरुकुल और राष्ट्रीय शिक्षा	६७

तृतीय खण्ड

(वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति)

१. विज्ञान की साधना और साध्य	७६
२. व्यावहारिक कृषि-विज्ञान	८४
३. भारत में विज्ञान की प्रगति	८७
४. सांख्यिकी-शास्त्र का महत्त्व	९१

चतुर्थ खण्ड

(प्रकीर्ण)

१. आज के विद्यार्थी के अधिकार और कर्तव्य	९७
२. बुनियादी तालीम	१००
३. लोक-विद्यालय : नये दायित्व और नये आवर्ष	१०४
४. शिक्षा-प्रसार और हिन्दी	१०६
५. विद्यार्थी और राजनीति	११७

प्रथम खण्ड

नवीन शिक्षा-पद्धति

१

शिक्षा-व्यवस्था का पुनर्निर्माण

२

विश्वविद्यालय और सामाजिक कल्याण

३

शिक्षा का माध्यम

४

शिक्षा और सामञ्जस्य

५

शिक्षा की नयी रूपरेखा

६

शिक्षा और आत्मविद्या

शिक्षा-व्यवस्था का पुनर्निर्माण'

मेरे लिए यह बहुत सन्तोष की बात है तथा इस बात के लिए मैं कृतज्ञ हूँ कि केवल भारत के ही नहीं, वरन् पड़ोसी दो देशों के भी अर्थात् लंका और बर्मा के भी विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों और प्रतिनिधियों के सम्मेलन का उद्घाटन करने का मुझे यह अवसर दिया गया है। मई सन् १९२४ में इस सम्मेलन की प्रथम बैठक हुई थी और तब से उसके फलस्वरूप स्थापित अन्तर्विश्वविद्यालय मण्डल प्रति वर्ष अपनी बैठक विश्वविद्यालयों के सामान्य हितों से सम्बद्ध प्रश्नों पर विचार करने के लिए तथा विश्वविद्यालयों की शिक्षा के हितों के साधन के लिए आवश्यक और वांछनीय समझे गये कार्य को हाथ में लेने के लिए कार्य करता रहा है। अभी हाल में भारत सरकार ने एक आयोग विश्वविद्यालयों की शिक्षा के सम्पूर्ण प्रश्नों पर विचार करने के लिए नियुक्त किया था। इसके सदस्यों में भारत के ही नहीं वरन् इंग्लैंड और अमेरिका के ख्यातनामा शिक्षा-शास्त्री थे। इसका अध्यक्ष पद डॉक्टर राधाकृष्णन् ने संभाला था। आयोग ने बहुत ही मूल्यवान रिपोर्ट पेश की है जिसमें केवल हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा-क्षेत्र में सफलताओं का विवरण ही नहीं है, वरन् उनके सम्बन्ध में बहुत ही सारगर्भित सिफारिशें और सुझाव भी हैं। हम एक स्वतन्त्र देश के निवासी हैं। हमारा संविधान गणतान्त्रिक है। उसके अनुसार इस देश में प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए आवश्यक योग्यताओं वाले अनेक नर-नारियों की जरूरत है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यहाँ के लोग प्रजातन्त्र से सर्वथा अपरिचित थे। हमारे देश में अनेक गणतन्त्र रहे हैं, किन्तु जो गणतन्त्र हमने हाल में ही स्थापित किया है उसकी तुलना में वे बहुत ही सूक्ष्म थे। जनता का उत्तरदायित्व नये गणतन्त्र के क्षेत्र के अनुपात में बढ़ गया है। हमारी शिक्षण-संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि वे उनको उन कार्यों के योग्य बनायें जो उनके सामने आने वाले हैं। संविधान स्वयं ही कुछ खास बात तब तक नहीं कर सकता जब तक कि इसके पीछे विशिष्ट स्तर की बुद्धि, सार्वजनिक भावना और देश के हित के प्रति लगन साधारण नागरिकों में न हो। शिक्षण-संस्थाओं का यह काम है कि वह ऐसा वातावरण पैदा करें जिसमें

१. भाषण : अन्तर्विश्वविद्यालय मण्डल, रजत-जयन्ती सम्मेलन, बनारस, २८ फरवरी, सन् १९५०।

गुण विकसित हों और उनके प्रभाव में पलने वाले व्यक्तियों को आवश्यक योग्यताएँ प्राप्त हों। विश्वविद्यालय आयोग के प्रतिवेदन का महत्त्व इस बात में है कि वह इस देश की वर्तमान व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता को स्वीकार करता है तथा इस आधार पर शिक्षा-समस्याओं पर विचार करता है। अतः इस को बहुत से क्रान्तिकारी परिवर्तनों का सुझाव देना पड़ा है। विश्वविद्यालय आयोग की नयी रिपोर्ट की यह खूबी है कि वह पुरानी परम्परा से पूर्णतया विच्छेद का सुझाव नहीं रखती, वरन् जो कुछ उसमें प्राप्य है उसमें से सबसे अच्छे को बनाये रखना चाहती है और जो सर्वोत्तम बात प्राप्त करना वांछनीय है उसके लिए प्रयास करने का सुझाव रखती है।

मुझे इसमें शंका नहीं है कि हमारी आधुनिक शिक्षा-परम्पराओं और आकांक्षाओं के संरक्षक की हैसियत से और हमारे विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि होने की हैसियत से आप उन सिफ़ारिशों और सुझावों पर पूरा विचार करेंगे।

यद्यपि हमारे विश्वविद्यालय लगभग एक शताब्दी से अस्तित्व में हैं तो भी पिछले ४० वर्षों में उनकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है और कुछ वर्षों में तो उनकी अभिवृद्धि उल्लेखनीय और चमत्कारिक है। यह भी विशेष प्रवृत्ति पायी जाती है कि एक के बाद दूसरा विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय। इससे प्रकट है कि उच्च शिक्षा के विकास के लिए लोगों के मन में कितनी रुचि है। पिछली अर्द्धशताब्दी में हाई स्कूलों की संख्या में बहुत ज्यादा वृद्धि हुई है और इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि हाई स्कूलों से शिक्षा समाप्त करके निकलने वाले विद्यार्थियों की आगे की शिक्षा के लिए नये विद्यालयों की माँग बढ़ जाय। स्कूलों और विद्यालयों की संख्या बढ़ने के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ना ही अनिवार्य था। मुझे इस बात की प्रसन्नता है; किन्तु साथ ही मुझे ऐसा लगता है कि ऐसे क्षेत्र में केवल संख्या के बढ़ने का यह आवश्यक अर्थ नहीं है कि मानसिक और बौद्धिक साधनों में भी अनुपातेन वृद्धि हुई है। यदि मैं—इन संस्थाओं के विद्यार्थियों की मानसिक शक्ति के स्तर में किसी सीमा तक गिरावट से हुई, और मेरा सीमित अनुभव मुझे इस गिरावट की ओर संकेत करता है,—अपनी निराशा की बात आपसे कहूँ तो मैं नहीं चाहता कि उससे आप कुछ और धारणा मन में बँठा लें। किन्तु इस भावना के अतिरिक्त जो इन संस्थाओं से मेरे से अधिक निकटतम सम्बद्ध लोगों के मन में चाहे हो और न भी हो, मुझे यह भी लगता है कि अब समय आ गया है जब हमें अपनी सारी शिक्षा-व्यवस्था के पुनर्निर्माण पर विचार करना है और इसके लिए प्रयास करना है। चूँकि विश्वविद्यालय आयोग की रिपोर्ट हमें इस दिशा में आगे बढ़ाती है इसलिए मैं इस को पर्याप्त महत्त्व देता हूँ।

इस विषय में कुछ मूलभूत प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर देना हमारे लिए आवश्यक है। उदाहरणार्थ शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को ही ले लीजिये। कुछ भी कारण क्यों न हो, काफ़ी लम्बे समय से हमारी शिक्षा की माध्यम विदेशी भाषा रही है। मैंने अपनी पढ़ाई अंगरेज़ी अक्षरों के सीखने से आरम्भ की थी। तब से इस विद्या में कुछ परिवर्तन हो गया है, पर मैं नहीं जानता कि क्या यह कहा जा सकता है कि बालक की शिक्षा का माध्यम सर्वथा उसकी मातृभाषा कर दी गई है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि अभी इस परिवर्तन की आरम्भिक अवस्था ही पूरी होने वाली है। जब हम माध्यमिक शिक्षा की बात सोचते हैं तो हमें पता चलता है कि बहुत से स्थानों में शिक्षा और परीक्षा का माध्यम अंगरेज़ी के स्थान पर भारतीय भाषाएँ हो रही हैं। किन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि यह परिवर्तन पूरी तरह किया जा चुका है। विश्वविद्यालयों में तो यह परिवर्तन मुश्किल से ही कहीं शुरू हुआ है। मेरा विश्वास है कि इस विषय के सब अधिकारी और जानकारी रखने वाले लोग यह मानते हैं कि यदि शिक्षा प्रभावशाली और धन तथा समय की दृष्टि से मितव्ययी होनी है तो वह जनता की भाषा में दी जानी चाहिए। देश की वर्तमान परिस्थितियों में इस सर्वमान्य सिद्धान्त पर किस प्रकार व्यवहार किया जाय, केवल यही प्रश्न विचारणीय है। आयोग ने इसका एक हल सुझाया है जिसे मैं एक प्रकार से समझौते वाला हल मानता हूँ। सब बातों पर विचार करके व्यक्तिगत दृष्टि से उसे एक शर्त पर पूर्णतया स्वीकार करने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं है और वह शर्त यह है कि इस पर अविलम्ब और मन में निहित विपरीत भावना के बिना कार्य आरम्भ कर दिया जाय।

हमारे सामने परीक्षाओं की भी समस्या है जो अब तक हमारी शिक्षा-व्यवस्था का प्रधान अंग रही है। जब हम उन परिस्थितियों पर विचार करते हैं जो हमारे विश्वविद्यालयों के आरम्भिक पचास वर्षों में उनको सौंपी गई थीं तो हमें पता चलता है कि बात कुछ और हो भी न सकती थी। उस समय हमारे विश्वविद्यालय केवल ऐसी ही संस्थाएँ थीं जो स्वयं पढ़ाने के लिए ज़िम्मेदार न थीं, वरन् केवल इस बात से सन्तुष्ट थीं कि विद्यार्थी को यह प्रमाण-पत्र दे दिया जाय कि उसने विशिष्ट दर्जे की योग्यता हासिल कर ली है। जिन संस्थाओं का यह काम था कि वे विश्वविद्यालयों द्वारा दी जाने वाली इन परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों को तैयार करें उनका स्वभावतः यह प्रयास रहता था कि इस प्रयोजन को, अर्थात् परीक्षाओं में सफलता प्राप्त कराने के प्रयोजन को, वे पूरा करें क्योंकि इसी प्रयोजन से तो विद्यार्थी उनमें प्रविष्ट होते थे। विद्यार्थियों के लिए भी इस बात के अलावा और कुछ चारा न था कि वे और सब बातों से ज्यादा इन प्रमाण-पत्रों को महत्त्व दें। क्योंकि इन्हीं प्रमाण

पत्रों पर तो उनका भविष्य और भावी जीवन लगभग सर्वथा निर्भर करता था । स्वभावतः शिक्षकों और विद्यार्थियों के लिए एक तरफ़ और विद्यालयों और विश्व-विद्यालयों के लिए दूसरी तरफ़ परीक्षाएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात हो गई । इस व्यवस्था की आलोचना यही है कि आज भी ऐसे विश्वविद्यालयों की जो अभिज्ञान प्रदान करने वाले हैं ग्रामदनी का मुख्य भाग उन शुल्कों से आता है जो उनकी परीक्षाओं में बैठने के अधिकार प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी देते हैं । यद्यपि एक शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में या उससे कुछ अधिक समय में शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं के रूप में कुछ विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई है, तथापि वे भी परीक्षाओं की जकड़ से अपने को मुक्त नहीं कर पाये हैं । यह भी उसी व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम है जो हमारे देश में थी और जिसके अन्तर्गत हमारे शिक्षक भाई अपनी जीविका के लिए केवल कुछ सीमित प्रकार की नौकरियों और धन्धों की बात ही सोच सकते हैं । इन धन्धों में सफलता प्राप्त करना भी इन परीक्षाओं के फलों पर बहुत कुछ निर्भर करता है । अतः यह प्रश्न विचार करने योग्य है कि इस भार से किस प्रकार और किस सीमा तक नवयुवकों को मुक्त किया जाय जिससे कि वे अपना ध्यान और समय सत्य-ज्ञान और सत्य-शिक्षा के उपार्जन में लगा सकें जो परीक्षा में सफलता प्रदान करने वाली और अधिक नम्बर दिलाने वाली जानकारी से बिलकुल विभिन्न होगी । जब तक इस दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं होता तब तक मुझे भय है कि हमारे विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए मौलिक ज्ञान के क्षेत्र में विशेष कामयाबी हासिल करना सम्भव नहीं होगा । यह सत्य है कि हमारे यहाँ बहुत से मेधावी व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने अच्छी ख्याति पाई है । उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी । किन्तु वे तो मरुभूमि में इक्की-दुक्की हरियाली के समान हैं जो अपने कामों के कारण विख्यात हो जाते हैं किन्तु अपनी योग्यता के बावजूद देश की रूपरेखा बदलने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं ।

हमारे देश में किसी समय गुरुकुलों की व्यवस्था थी । उस प्राचीन परम्परागत गुरुकुल-व्यवस्था में शिक्षक और शिक्षार्थी में पारस्परिक बड़े घनिष्ठ और निकटतम सम्बन्ध होते थे । अंगरेजी शिक्षा-व्यवस्था के प्रारम्भ होने तक व्यावहारिक दृष्टि से पाठशालाओं और मकतबों में भी यह घनिष्ठता बहुत कुछ मौजूद थी । यद्यपि यह बात नहीं कही जा सकती कि उस समय इसकी प्रारम्भिक शुद्धता या प्रभुता थी, किन्तु उस आदर्श से आधुनिक व्यवस्था शनैः-शनैः दूर होती चली जा रही है और आज हमारे विद्यालयों और पाठशालाओं में शिक्षक और विद्यार्थी के बीच मालिक और नौकर के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध सम्भवतः नहीं है । विद्यार्थी शिक्षक की सेवाओं के लिए शुल्क देता है और शिक्षक दिन में कुछ घंटे पढ़ाने का काम कर देता है । इसके अतिरिक्त दोनों में और कोई सम्पर्क नहीं होता । इस बारे में अग्रवाद हो सकते

हैं, किन्तु मुझे भरोसा है कि स्थिति का ऐसा दिग्दर्शन करके मैं उस रूप को भौंडा चित्र नहीं दे रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि विद्यार्थियों में जिस अनुशासनहीनता की बात आजकल आप लोग सुनते हैं वह इन्हीं वर्तमान परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम है। अनुशासन सर्वदा बलपूर्वक नहीं मनवाया जाता, वरन् उसकी भावना हृदय के अन्दर से ही पैदा होती है। इस प्रयोजन के लिए यह आवश्यक है कि कुछ स्वाभाविक परिस्थितियाँ मौजूद हों। आज ये परिस्थितियाँ मौजूद नहीं हैं और इसलिए मैं कुछ अधिक अच्छे परिणामों की भी अपेक्षा नहीं कर सकते।

इसी समस्या के साथ विद्यार्थी के इस गुण के विकास की समस्या भी बँधी हुई है, जिसे हम एक शब्द में 'चरित्र' कह सकते हैं। हमारी शिक्षा-व्यवस्था ने इस बात पर ध्यान देना छोड़ दिया है, किन्तु मेरा विचार है कि अन्ततोगत्वा विद्यार्थी के मानसिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक गठन का महत्त्व और मूल्य केवल उसके लिए ही नहीं, वरन् सारे देश के लिए उसके कोरे बौद्धिक विकास से कहीं अधिक है। यह ऐसी समस्या है जिसे हल करना है, और मुझे इस बात का हर्ष है कि हमारी शिक्षा-व्यवस्था के इस पहलू पर विश्वविद्यालय-आयोग ने विचार किया है।

एक बात और है जो मेरी दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह एक नये प्रकार के विश्वविद्यालयों की जिन्हें ग्राम्य विश्वविद्यालय का नाम दे सकते हैं स्थापना का प्रश्न है। जब महात्मा गान्धा ने बुनियादी तालीम की स्कीम देश के सामने रखी थी तो कुछ लोगों ने उसे क्रान्तिकारी स्कीम समझा था, तथापि देश के ख्यातनामा शिक्षा-शास्त्रियों में से पर्याप्त ने उसका अनुमोदन किया था। और कामों की तरह जिन्हें उन्होंने अपने हाथ में लिया था वे इस बारे में भी बहुत ही स्थिरमत थे और उनकी प्रेरणा से बहुत सी प्रान्तीय सरकारों ने इस प्रयोग को प्रारम्भ किया था। पड़ौसी बिहार प्रान्त में किये जाने वाले इस प्रयोग से साधारणतया सम्बद्ध होने का मुझे भी सौभाग्य मिला था। वह प्रयोग एक छोटे पैमाने पर किया जा रहा था, किन्तु सौभाग्य-वश उसे पूरा किये जाने का अवसर मिला। ऐसी बात दूसरे प्रान्तों में नहीं हुई। बहुत सी बाधाओं के बावजूद जिनका सामना इसे करना पड़ा, यह अधिकृत व्यक्तियों की दृष्टि में पूर्णतया सफल हुआ और इसने प्रान्त के शिक्षा-शास्त्रियों के सामने कार्य का नया क्षेत्र खोल दिया। मुझे ज्ञात हुआ है कि कार्यक्षमता का ध्यान रखकर इस व्यवस्था को अब विस्तृत क्षेत्र में फैलाया जा रहा है। कार्य-क्षमता तो योग्य और अच्छे शिक्षकों की संख्या पर निर्भर करती है। इसलिए मेरा विचार है कि इस व्यवस्था का विस्तार यहाँ इसी बात पर निर्भर करता है कि इस प्रयोजन के लिए विभिन्न प्रकार के शिक्षकों की प्रशिक्षा में और उन्हें तैयार करने में कितना समय लगता है।

ग्राम-विश्वविद्यालयों की योजना जैसा कि रिपोर्ट के लेखक स्वयं कहते हैं इसी

योजना का ऐसे परिवर्तनों सहित विस्तार है जो उन्हें उचित जँचे हैं। मुझे ऐसा लगता है कि उसी दशा में शिक्षा के विस्तार की सिफ़ारिश करके आयोग ने देश की वर्तमान परिस्थितियों में सबसे बड़ी सेवा की है। अब यह विशेषज्ञों का और राज्य सरकारों और केन्द्रीय सरकार का काम है कि वे इन सिफ़ारिशों को अमल में लाने के लिए व्यावहारिक बातों का निर्णय करें। मुझे इसमें शंका नहीं है कि यह योजना देशवासियों के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकती है और ग्रामों की रूपरेखा को बेहतर बना सकती है। आजकल गाँव से आने वाले नौजवान मैट्रीकुलेशन परीक्षा पास कर लेने के पश्चात् शहर में, जहाँ उन्हें हर हालत में आजकल की महँगी के कारण अपने खर्चों को अपनी आमदनी के अन्दर रखना मुश्किल होता है, किसी दफ़्तर में कुछ रुपये तनख़्वाह वाली नौकरी पाने की कोशिश करते हैं। इससे तो कहीं बेहतर होगा कि वे अपने परिवार के पुराने धन्धे में ही लगे रहें और गाँव के वातावरण में खेती को सुधारें और स्वास्थ्यजनक जीवन व्यतीत करें। किन्तु आजकल का तथाकथित शिक्षित नौजवान यह बात नहीं कर सकता। चूँकि वह पढ़-लिख गया है इसलिए अपने बाप या चाचा के खेत में उसके लिए काम करना सम्भव नहीं है। मेरे सामने एक प्रश्न सदा बना रहा है कि क्या सत्य ही हमारी शिक्षा का प्रयोजन हमारे लोगों को अयोग्य और परावलम्बी बनाना है? क्या उसे उनको अधिक आत्मविश्वासी, जीवन-संघर्ष का मुक्ताबला करने के लिए सुसज्जित और अपने परिवारों की और साथ-ही साथ सारे देश की सेवा के लिए विशिष्टतया सुसज्जित करना नहीं है? जो व्यवस्था अब तक क़ायम रहा है उसने गाँव से उन लोगों को अलग कर दिया है जिन्हें शिक्षा पाने का अवसर मिला है और इस प्रकार गाँवों को वहीं-का-वहीं रहने दिया है जहाँ वह पहले थे। इस शिक्षा के परिणामस्वरूप गाँव से उनके सर्वोत्तम व्यक्तियों के अलग हो जाने की समस्या के दलदल से बचने का रास्ता संभवतः इन ग्राम्य विश्व-विद्यालयों की स्थापना द्वारा निकल सकता है। किन्तु मैं आपका और समय नहीं लेना चाहता। मुझे आशा है कि आपका ध्यान उन बातों की ओर आकृष्ट करने के लिए जो मुझे ठीक जँची आप धृष्ट न समझेंगे।

मुझे ऐसा लगा कि आपका जैसा मण्डल ऐसे प्रश्नों पर सब बातों को ध्यान में रखकर विचार कर सकता है और इसलिए मैंने उनकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करने की स्वतन्त्रता बरती। इस आयोग में भाग लेने के लिए मुझे आपने यह मौक़ा दिया, इसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ और चाहे मेरा इसमें कितना ही कम भाग क्यों न हो इसका उद्घाटन करने में मुझे बड़ी प्रसन्नता है।

विश्वविद्यालय और सामाजिक कल्याण^१

यहाँ मेरे समक्ष केवल भारत, बर्मा और लंका के विश्वविद्यालयों के ही नहीं, वरन् अन्य देशों के विश्वविद्यालयों के भी जो राष्ट्रमण्डल के सदस्य हैं, उपकुलपति और अन्य उच्चाधिकारी भी समवेत हैं और इसलिए जो आदर आपने मुझे इस सम्मेलन के उद्घाटन करने का निमन्त्रण देकर प्रदान किया है उसकी मैं बहुत क्रोध करता हूँ। मेरा विचार है कि यह पहला अवसर है कि जब ऐसा सम्मेलन भारत में हो रहा है और भारत का इन्टर यूनिवर्सिटी बोर्ड और विशेषतः दिल्ली का विश्व-विद्यालय इस बात के लिए अपने को विशेष गौरवान्वित समझता है कि उसे ऐसे प्रख्यात विद्वानों की मेहमाननवाजी करने का अवसर मिला है। आपने विचार-विनिमय के लिए जो विषय अर्थात् 'सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि में विश्वविद्यालयों का स्थान' रखा है, वह सम्मेलन के सदस्यों के लिए ही नहीं, वरन् संसार भर के विचारवान् नर-नारियों के लिए भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण और हृदयग्राही है। हम लोगों को जो आज संसार में जीवित है बहुत सी वस्तुएँ बहुत मामूली-सी लगती हैं, किन्तु आज से कुछ वर्ष पहले तो उन्हें अभूतपूर्व और चमत्कारिक वस्तुएँ माना जाता था। पिछले कुछ वर्षों से भौतिक विज्ञान और शिल्प के क्षेत्र में नये तथ्यों के पता चलने का जो रफ़्तार रही है उसने केवल दुनिया की शकल-सूरत ही नहीं बदली है, वरन् दूर-दूर प्रदेशों के रहने वाले नर-नारियों का जीवन भी बिल्कुल बदल दिया है। भाप और बिजली ने यातायात के औद्योगिक उत्पादन और संचार-साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है। औषधि और शल्य के क्षेत्र में जो नयी बातें खोज निकाली गई हैं उनसे शरीर के अनेक रोगों की जो अभी तक असाध्य रोग समझे जाते थे, चिकित्सा आसान हो गई है। इस प्रकार विज्ञान ने जीवन को सरल और आरामदेह बनाने के अनेक साधन मनुष्य को प्रदान कर दिये हैं। इन्हीं खोजों ने उसके हाथ में जीवन के हर क्षेत्र में विनाश के साधन दे दिये हैं। वर्षों में आणविक शक्ति को क्लॉब में लाने के सम्बन्ध में जो प्रगति हुई है उससे तो विनाश के साधनों में आज तक जो तरक्की हुई थी उससे कहीं ज्यादा विनाश-शक्ति मनुष्य के हाथों में आ गई है। उसके

१. भाषण : राष्ट्रमण्डल के विश्वविद्यालय सघ की कार्यकारिणी और अन्तर्विश्वविद्यालय समिति के संयुक्त अधिवेशन का उद्घाटन।

कल्याणकारी प्रयोगों या प्रभावों के सम्बन्ध में अभी तक कोई बात हमें ठीक तरह से न तो ज्ञात है और न ही दिखाई दी है। इस प्रकार मानव-जाति के और सभ्यता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या संसार के सामने है। मेरा वर्तमान जगत् के सम्बन्ध में यह अन्दाजा गलत नहीं है कि आदमी ने आज दानवों की-सी शक्ति और सत्ता अथवा उस शक्ति और सत्ता से भी अधिक सत्ता और शक्ति जो अब तक दानवों की समझी जाती रही है प्राप्त कर ली है। किन्तु उसके कल्याणकर प्रयोग के रहस्य को उसने नहीं जान पाया है। संभवतः मेरा यह कहना ठीक ही होगा कि उसने कल्याणकर प्रयोगों के स्थान पर उसके बुरे प्रयोगों को ही अभी सीखा है। यदि हम उसका कल्याणकारी प्रयोग नहीं कर पाये तो जितनी ही शक्ति और सत्ता अधिक होगी उतनी ही विनाशकारी उनकी सामर्थ्य होगी। आज इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि मानव को विज्ञान ने जो ज्ञान और शक्ति प्रदान की है, यदि उसका उचित प्रयोग और नियन्त्रण करने का रहस्य उसने न जाना तो मानव-जाति के सिर पर मृत्यु नाचने लगेगी।

हमारे पुराणों में एक कथा है जिसे यहाँ इस तथ्य पर प्रकाश डालने के लिए दुहरा देना चाहता हूँ। कहा जाता है कि एक दुष्प्रकृति वाला भस्मासुर नामी राक्षस था। उसने कठोर तपस्या की। भगवान् शिव प्रसन्न हो गये और उसे दर्शन दिये और उससे कहा कि वह कोई भी वर माँगे, और उसे आश्वासन दिया कि भगवान् वह वर प्रदान करेंगे। उस असुर ने अपनी कठोर तपस्या में अनेक यातनाएँ सही थीं और इस प्रस्ताव से वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने यह वर माँगा कि भगवान् उसको ऐसी शक्ति प्रदान करे कि वह जिस व्यक्ति के सिर पर हाथ रखे वह तुरन्त ही भस्म हो जाय। भगवान् ने वचन दे दिया था और वे उसे भंग नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्होंने वह शक्ति उसे प्रदान कर दी। असुर मन में यह सोचने लगा कि विश्व भर में मानवों या देवताओं में ऐसा कौन सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति है जिसे भस्म कर वह सारे भूत जगत् का एकछत्र प्रभु बन जाय। उसने सोचा कि ऐसा उस देवता के बिना कोई नहीं हो सकता जिसने उसे यह विनाश की शक्ति प्रदान की है और उसने मन में भगवान् शिव को भस्म करने की ठानी जिससे वह विश्व भर का निष्कण्ठक स्वामी बन जाय और उनकी पत्नी पार्वती का पाणिग्रहण कर ले। उसके इस विचार को जानकर भगवान् भागे और वह असुर उनके पीछे दौड़ा। भगवान् को कोई ऐसा स्थान नहीं मिला जहाँ वह उस असुर से अपनी रक्षा कर सकते। भगवान् शिव की पत्नी देवी पार्वती ने उनकी यह दुरवस्था देखी और उनकी रक्षा के लिए आईं। असुर के सामने वे अपने पूरे रूप और लावण्य से प्रकट हुईं और उससे कहा कि तू भगवान् शिव को इसलिए मारने की चेष्टा करता है कि तू मुझ को चाहता है। इसलिए

यदि तू मुझे विशिष्ट नृत्य से प्रसन्न कर दे तो मैं स्वयं ही तुझे अपने को अर्पण करने को प्रस्तुत हूँ। घमण्ड और विमोह के कारण असुर इस प्रस्ताव से सहमत हो गया और नाचने लगा। नाच की एक मुद्रा ऐसी थी जिसमें उसे अपना हाथ अपने सिर पर रखना था और उसने जैसे ही यह बात की वैसे ही वह वरदान के कारण वहीं भस्म हो गया। वर्तमान युग के देवताओं ने साजिश करके मनुष्य के हाथ में संहार की ऐसी असौख्य शक्ति दे दी है और उसकी आँखों के सामने ऐसा विकृष्ट करने वाला आकर्षण रख दिया है जिसे वह अपने ज्ञान के भद्र में सुन्दर और अभूतपूर्व समझता है। हम ईश्वर से यही प्रार्थना कर सकते हैं कि इस ताण्डव नृत्य के नाचने के लालच से वह हमें दूर रखे। इस लालच से क्योंकर बचें, यही समस्या अनेकानेक मनुष्यों के सामने आज उपस्थित हो रही है। हमें ईश्वर से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि देवी सरस्वती मनुष्य को उस शक्ति और सत्ता के उचित प्रयोगों के रहस्यों को बताये जो उसने मानव को प्रदान कर दी है। वह उसे इस योग्य बना देगी कि जिस शक्ति से आज पूर्ण विनाश का खतरा है उसी का वह कल्याण-साधन के लिए प्रयोग कर सके और उसके प्रयोग से मानव की शक्ति और सत्ता का विनाश होने के बजाय उसके दोषों का ही नाश हो। इतिहास हमें यही शिक्षा प्रदान करता है कि जब तक ज्ञान से सुबुद्धि संयुक्त और नियन्त्रित न हो तब तक वह केवल स्वयं पर्याप्त तो है ही नहीं, वरन् अहितकारी भी सिद्ध हो सकता है। अतः विश्वविद्यालयों को केवल ज्ञान प्रदान कर उसका प्रसार और वृद्धि ही न करनी चाहिए, वरन् उनको सुबुद्धि का भी ऐसा आगार होना चाहिए जहाँ से ज्योति की किरणें फैलकर मानव-आत्मा को प्रकाशित कर देती हैं और उसे देवी ज्योति से ओत-प्रोत कर देती हैं।

इसी विचार को रहस्यमयी भाषा के बजाय सीधी-सादी भाषा में मैं आपके सामने रखूँगा ? कुछ ऐसी घटनाएँ हुई हैं जिनसे सारे जगत् के रूप-रंग के पूर्णरूपेण परिवर्तित हो जाने की संभावना है। आणविक शक्ति ने मनुष्य को देवताओं की शक्ति समस्त भूमण्डल को आनन्दमय स्वर्ग अथवा निपट एकाकी प्रगाढ़ शान्तिमय समाधिस्थल बना देने की शक्ति प्रदान कर दी है। वाष्प और विद्युत् के साथ-साथ जो क्रान्तिकारी परिवर्तन चले आये उनका आप सब को ज्ञान है। किन्तु आणविक शक्ति के इस भीम के सामने ये दोनों तो बेचारे घुटनों चलने वाले शिशु थे। अतः यह विचार सर्वथा बुद्धिसंगत है कि शक्ति की इस महावृद्धि में मानव के सामाजिक गठन और मानसिक स्वरूप में उससे भी कहीं अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन निहित है जो कि वाष्प अथवा विद्युत् के कारण हुआ था।

आज के समाज के खोल से जो दूसरी क्रान्तिकारी शक्ति टकरा रही है वह वह दुर्दमनीय आन्दोलन है जो स्वामित्व-प्राप्त और पेशेवर वर्गों के मक्काबले में जीवन

की सबसे अच्छी वस्तुओं को बराबर-बराबर पाने के लिए असंख्य जनसमूह के और विशेषतः आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में पिछड़ी हुई एशिया और सागर द्वीपमाला के अरबों नर-नारियों के हृदय में लहरा रहा है। गत शताब्दियों में जनसाधारण का समस्त जीवन और परिश्रम इस विश्वास से बँधा था कि उनके परिश्रम का पुरस्कार कुटिल देव की इच्छा पर निर्भर करता है और इस बारे में न तो उनका कोई चारा है और न कोई बचत, अतः अपने दुःखभरे भाग्य को वे मरे हुए मन से माने रहते थे। किन्तु जहाँ तक संसार के और कम-से-कम एशिया के करोड़ों नर-नारियों का सम्बन्ध है, भाग्य का यह आधार वर्तमान व्यवस्था और विधान के तले से खिसक गया है या खिसका जा रहा है। उचित हो या अनुचित, किन्तु उनमें से आज अनेक यह समझ रहे हैं कि उनका अभाव और कष्ट दयासागर और सर्वज्ञाता भगवान् की देन न होकर कुटिल मानवों, वर्गों और राष्ट्रों के दुष्प्रयोजनों का परिणाम है। अपनी वर्तमान दुरवस्था के विरुद्ध उठ पड़ने के लिए अनेकों को क्षुधा का अंकुश मजबूर कर रहा है। इसीलिए आज के जगत् की राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था को मिटाने के लिए नर-नारी आगे बढ़ रहे हैं। मानव-जाति के इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ कि इतने असंख्य साधारण नर-नारियों का समूह, उस ऐतिहासिक सत्ता और व्यवस्था के विरुद्ध जो उनके जीवन को शासन और नियमों में बाँधे हुए हैं, इस प्रकार तुमुल युद्ध करने के लिए और नव समाज के निर्माण के लिए ऋटिबद्ध होकर उठ खड़ा हुआ हो।

यदि हमारे युग की ये दोनों क्रान्तिकारी शक्तियाँ स्वभावतया अनमेल या विरोधी होतीं तब मानव-जाति के बचे रहने का लेशमात्र आशा भी न होती। भाग्यवश बात बिलकुल उलटी है। अभी कल तक ही तो मानव-जाति के उत्पादन-यन्त्र में यह सामर्थ्य न थी कि वह सफ़ेद और रंगवाले सभी मानवों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। यह ठीक है कि वाष्प और विद्युत के उत्पादन ने बहुत वृद्धि की, किन्तु फिर भी उसकी कुल सामर्थ्य बिलकुल सीमित थी और वह इसमें असमर्थ था कि द्रुतगति से बढ़ने वाली मानव-जाति की नित्यप्रति बढ़ने वाली आवश्यकताओं की, और खास तौर से उस अवस्था में जब साधारण जनों के मन में भी यह बात बँठ गई हो कि उन्हें भी उच्च वर्ग के बराबर ही सब उत्पादित वस्तुओं में समान भाग मिलना चाहिए, पूर्ति कर सके। यह होना अनिवार्य था ही। जब शक्ति सीमित थी तो उत्पादन सीमित ही हो सकता था, पर उत्पादित वस्तुओं के भागीदारों की संख्या न तो सीमित थी और न सीमित हो सकती थी। किन्तु आणविक शक्ति ने मानव-जाति को असीम और सीमाहीन शक्ति प्रदान कर दी है। यदि इसे सृजनात्मक प्रयोजनों के लिए काम में लगाया जाय तो यह उत्पादन की असीम शक्ति पैदा कर देगी और एक ऐसे सम्पन्न जगत् की सृष्टि कर देगी जिसमें अपने भाई-बहनों

के भाग पर किसी तरह का असर डाले बिना प्रत्येक नर-नारी जो कुछ चाहेगा ले सकेगा। दूसरे शब्दों में जीवन की अच्छी वस्तुओं को पाने के लिए जनसाधारण की आकांक्षा की पूर्ति का साधन यही क्रान्तिकारी शक्ति है।

किन्तु इस बारे में शंका के लिए गुंजाइश है कि इन दो क्रान्तिकारी शक्तियों का मेल उस सामाजिक चेतना द्वारा कराया जा सकता है या नहीं जो आजकल मानवों के कार्यों का संचालन कर रही है। बहुत कुछ सीमा तक यह चेतना सीमित शक्ति और सीमित उत्पादन-युग की पुत्री है। अतः यह अनिवार्य-सा ही है कि जीवन के इन नये तथ्यों के स्वाभाविक और निहित परिणामों को समझने में यह असफल सिद्ध हों। युद्ध और अभाव के प्रति वर्तमान सामाजिक चेतना के रुख से यह आशंका और भी दृढ़ हो जाती है। आज भी इसे इस सत्य का भास हुआ प्रतीत नहीं होता कि इन दोनों का पूर्णतया अन्त करना ही मानव-जाति के बचाव और बने रहने की पहली शर्त है। अभी हाल तक युद्ध का अर्थ इसके सिवाय और कुछ न था कि कोई भी वर्ग या प्रादेशिक समूह किसी दूसरे वर्ग या राष्ट्र से अपने झगड़ों को सुलझाने के लिए अपनी शक्ति का विध्वंसात्मक प्रयोग उनके विरुद्ध करे। ये लोग इस प्रकार के प्रयोगों को निश्चिन्त होकर इसलिए कर सकते थे कि जिन वस्तुओं को वे मूल्यवान् समझते थे उनका सीमित शक्ति से सीमित विनाश ही हो सकता था। वैसे प्रयोगों से वे उन धर्मों की पूर्ति कर सकते थे जो युद्ध द्वारा विनष्ट होने वाली कुछ वस्तुओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे। इसके अतिरिक्त सीमित उत्पादन से जीवन की अच्छी वस्तुएँ इतने परिमाण में उत्पादित नहीं की जा सकती थीं कि सब लोग उनमें हिस्सा ले सकें। अतः व्यक्ति और समूह के लिए यह अनिवार्य था कि वे अपनी चाही हुई वस्तुओं को दूसरे हिस्सा माँगने वालों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करके हथिया लें। दूसरे शब्दों में सीमित उत्पादन के युग में मानवीय समूह का यह विचार था कि उनके सुखी जीवन के लिए युद्ध एक फलदायी साधन है। इस अवस्था में विकसित सामाजिक चेतना का स्वभावतः ही युद्ध के प्रति इसके अतिरिक्त और कोई दृष्टिकोण नहीं हो सकता था कि वह वांछनीय है और कम-से-कम मानव-जीवन में अनिवार्य और अपरिहार्य तो है ही। युद्ध के बारे में यह रुख हमारे सामाजिक मन का ऐसा अविच्छिन्न अंग बन गया है कि केवल युद्ध के नाम को सुनते ही सहज में ही उसके प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होने के बजाय अनेक मनुष्य जिनमें विद्वान् और उच्च राजनैतिक पद धारण करने वाले भी सम्मिलित हैं उसे वर्गीय और राष्ट्रीय मतभेदों और झगड़ों को हल करने का प्रभावशाली साधन समझते हैं और उसे संगठित सामूहिक जीवन का स्वाभाविक और निहित अंग मानते हैं। युद्ध के प्रति अपनी प्रकृति-जनित प्रतिक्रियाओं के कारण यह सामाजिक चेतना स्वभावतः ही इस असीम शक्ति

के युग में युद्ध के परिणामों का अन्दाजा लगाने में असमर्थ है। जैसा कि मैंने अभी कहा है आणविक शक्ति ने मनुष्य को असीम शक्ति प्रदान कर दी है। इसके विध्वंसात्मक प्रयोगों के परिणाम न तो किसी प्रदेश और न किसी काल तक ही सीमित रखे जा सकते हैं। इस प्रकार यह नतीजा अनिवार्य प्रतीत होता है कि आरम्भ होने वाले इस नये युग में मानव के अस्तित्व के लिए युद्ध घातक सिद्ध होगा। किन्तु मुझे भय है कि युद्ध के प्रति अपनी सहज भावना के कारण हमारी सामाजिक चेतना इस सत्य को आसानी से नहीं पहचान सकती और मानव-जीवन की व्यवस्था में आणविक शक्ति के असली महत्त्व को पहचानने में भी असमर्थ रहेगी।

जीवन के अभाव के विरुद्ध जनसाधारण के विप्लव से पैदा होने वाले प्रश्नों का हल भी यह चेतना सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। पिछले सहस्रों वर्षों से अनेकों की गरीबी और दुःख तथा थोड़े लोगों की सम्पन्नता और सस्कृति मानव-जीवन का अनिवार्य और अपरिहार्य तथ्य हैं। यह ठीक है कि मानव के प्रति स्नेह और सद्भावना से श्रोतप्रोत अनेक ऋषियों और महात्माओं ने अनेकों की इस दुःखभरी अवस्था के लिए आंसू बहाये हैं। उनमें से कुछ ने तो इस बात के लिए रोष भी प्रकट किया है कि वे थोड़े लोग उस समय भी जब उनके अनेक भाई हर प्रकार की यातनाओं और विपत्तियों को सह रहे हैं स्वयं आनन्द में लीन हैं। किन्तु चाहे उन्होंने इस परिस्थिति को धैर्य से सहा अथवा धार्मिक जोश से उसके विरुद्ध आग उगली, पर गरीबी न तो मिटी और न मिटायी जा सकी और न अभाव के भूत को सदा के लिए दफ़न किया जा सका। सीमित उत्पादन और अभाव की अनिवार्यता की ऐसी स्थिति में हमारी वर्तमान सामाजिक चेतना का जन्म हुआ।

आज से छः वर्ष पहले युद्ध के समाप्त हो जाने पर भी न तो किसी राष्ट्र को और न किसी वर्ग को शान्ति के दर्शन हुए और न सम्पन्नता के। किन्तु इस बात की बजाय कि उनकी वर्तमान दुरवस्था का कारण उनकी सामाजिक चेतना का दोष है उनमें से प्रत्येक यह विश्वास करता है कि वह सब उनके मुखालिफ़ राष्ट्रों या वर्गों के दिल के अन्दर बुराई की बहुतायत की वजह से है। कोई दिन ऐसा नहीं होता जब वे एक दूसरे पर बड़े जोर के साथ दोषारोपण या प्रतिदोषारोपण न करते हों। जैसा कि मैंने पहले कहा है हमारे जीवन का रोग आज किसी एक राष्ट्र का पापमय हृदय नहीं है; वरन् वह इतिहास-प्रदत्त सामाजिक चेतना का मानव-जीवन की नयी शक्तियों से अनमेल है। आज मनुष्य के सामने जो विपत्ति है वह संगठन की या वस्तुओं की विपत्ति न होकर चेतना की विपत्ति है। दूसरे शब्दों में आज जिस बात की हमें कमी है वह न तो वस्तुओं की कमी है और न संगठन की। वह उस अखण्ड इच्छाशक्ति और सर्वतोमुखी दृष्टि का अभाव है जो हमें अपनी शक्ति और

साधनों का ठीक प्रयोग करने के योग्य बना सके। इसलिए स्वभावतः इस रोग का निदान वस्तुओं या संस्थाओं के जगत् में न होकर चेतना के क्षेत्र में है। गान्धी जी की भाषा में कहा जा सकता है कि आज हमारी सर्वोपरि आवश्यकता संसार की विजय न होकर हृदय का परिवर्तन है। आज सबसे ज्यादा आत्मिक शक्ति की आवश्यकता है, न कि भौतिक शक्ति की।

यही सर्वोपरि आवश्यकता सच्चे विश्वविद्यालय को मानव-जाति का भावी त्राणकर्ता बना देती है। अन्य मानवीय संस्थाएँ चाहे उनकी शक्ति या शस्त्र कैसे भी क्यों न हों इस विपत्ति के सामने फलहीन और असहाय हैं। यह ठीक है कि अपने विभिन्न रूपों में राज्य मानव-समाज की इन बुराइयों को दूर करने की कोशिश करता रहा है। इस दिशा में इसे सफलता भी मिली है, किन्तु मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि भूमण्डल पर न्यायपूर्ण समाज को पैदा करने के लिए राज्य को दाईं और धाय मानने के परिणामस्वरूप ही जगत् में तानाशाही का जन्म और विकास हुआ है। इसका स्वाभाविक अर्थ ही यह है कि कुछ लोगों का अनेक लोगों पर प्रभुत्व हो। राज्य का प्रधान अस्त्र शक्ति है जो बनाती कम है और बिगाड़ती अधिक है। अतः जहाँ राज्य सामन्तशाही युग की अराजकता को मिटाने में सफल हुआ है वहाँ उसने राष्ट्रों और वर्गों की अराजकता को पैदा कर दिया है और उस अराजकता से आज मानव-जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। राज्य के समान ही अन्य सामाजिक संस्थाएँ भी मानव को हमारे युग की विपत्ति पर विजय पाने के योग्य नहीं बना सकतीं। इस पर काबू पाने के लिए हमें ऐसी सामाजिक चेतना की आवश्यकता है जो समस्त भूमण्डल में मानवीय हरकतों के हर पहलू और क्षेत्र को ठीक-ठीक तरह से पहचान ले और किसी एक वर्ग या राष्ट्र की खाल के अन्दर ही बन्द न रहे। यथावत् निर्मित और संचालित विश्वविद्यालय के अतिरिक्त और कोई संस्था इस प्रकार की एकीकृत और विश्वव्यापी चेतना की सृष्टि नहीं कर सकती। विश्वविद्यालय का सर्व-प्रथम कार्य मानव की चेतना को ठीक तरह ढालने और रूपित करने और विभेद भरी मानव-जाति की सामाजिक चेतना में अखण्ड एकता पैदा करने का है। हम सब जानते हैं कि प्रत्येक देश और युग में विश्वविद्यालय गत पीढ़ियों के विचारों को नयी पीढ़ियों को देने तथा नये तथ्यों की खोजों और पुराने तथ्यों के आगे विकास का द्विमुखी काम करता रहा है। दूसरे शब्दों में विश्वविद्यालय का यह ऐतिहासिक मिशन रहा है कि प्रत्येक नयी पीढ़ी को सामाजिक चेतना दे और इस प्रकार उसकी अपनी चेतना को ढाले और रूपित करे। किन्तु इस कार्य का एक निहित अंग यह भी है कि एक ही मानवीय समूह में एक साथ ही कार्यशील विभिन्न चेतनाओं का एकीकरण किया जाय। जब अन्य संस्थाओं में से प्रत्येक स्वभावतः दूसरों से अलग करने वाली

संस्था नहीं होती तब विश्वविद्यालय भी अपने में न तो बन्द संस्था है और न हो सकती है ।

मेरा विचार है कि नवयुग द्वारा लादे गये इस भार में सफलता प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालय को कई बातें करनी पड़ेंगी । प्रथम तो मानव-समाज के विकास की कहानी के सम्बन्ध में इसे अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा । आज तक इस कहानी की प्रधान बात मानव-समाज में शक्ति का स्थान है । इतिहास की लगभग प्रत्येक पुस्तक के अधिक भाग में युद्धों और संघर्षों का वर्णन होता है और उसका बहुत थोड़ा ही अंश सामाजिक और वैज्ञानिक विचारों और आदर्शों के विकास से सम्बद्ध होता है । योद्धाओं को ही, न कि वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, कवियों अथवा कलाकारों को उसमें प्रमुख स्थान मिलता है । आज भी इतिहास की अनेक पुस्तकों से यही ध्वनित होता है कि मानव-जीवन के नाटक को गतिमान बनाने वाली और आगे बढ़ाने वाली शक्ति केवल संगठित मौलिक शक्ति ही है । किन्तु हिंसात्मक संघर्ष तो जीवन का दैनिक तथ्य नहीं है । यह तो एक ऐसा अपवाद है जो कभी-कभी ही देखने में आता है । मानव-जीवन का सूत्र एक युद्ध के बाद दूसरा युद्ध न होकर एक सृजनात्मक प्रयास के बाद दूसरा सृजनात्मक प्रयास है । अतः जो अनथक सृजनात्मक और आध्यात्मिक कार्यधारा मानव को भूमण्डल के अन्य सब जीवों से विभिन्न करती है उसी के आधार पर सारे मानव-इतिहास का पुनर्निर्वचन आवश्यक है । अब यह बात स्वीकार की जा रही है कि इतिहास अन्ततोगत्वा मानव-चेतना की ही कहानी है । मेरे विचार में अब समय आ गया है कि जगत् भर के विश्वविद्यालय मिल-जुलकर इस बात का संगठित प्रयास करें कि मानव की कहानी अपने मूलभूत तत्त्व अर्थात् सृजनात्मक और आध्यात्मिक कार्यधारा के आधार पर ही पुनर्निरूपित की जाय । सम्भवतः यह बात परम्परागत विचारों से कुछ बेमेल मालूम हो, पर मेरा यह विश्वास है कि मानव कोरी भौतिक शक्तियों का ही प्राणो नहीं है । वह अपने क्राबू के बाहर की परिस्थितियों का ही असहाय दास नहीं है । उसमें इतनी शक्ति और सामर्थ्य है कि उन परिस्थितियों को इच्छा के अनुकूल ढाल ले या रूपित कर ले और अतीत में उसने ऐसा अनेक बार किया भी है । यह विश्वविद्यालय का धर्म है कि वह उसकी इस सुस्त आत्मा को जाग्रत करे जो उसे अपनी परिस्थितियों का जिनमें से कुछ उसी की सृष्टि हैं, दास रहने के बजाय जैसा कि वह आज है उनका मालिक बना दे ।

इस बारे में जो दूसरा परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होता है वह यह है कि इतिहास की पुस्तकों का मानक्षेत्र राष्ट्र के बजाय सारा भूमण्डल हो । आज राष्ट्र की ओट मानव को सर्वथा आँखों से छिपा देती है, पर अन्ततोगत्वा संसार के हर कोने में मानव की सृजनात्मक प्रेरणा ने ही उसे सभ्यता और संस्कृति के ताने-बाने को बुनने

के लिए मजबूर किया है। यह ठीक है कि उसमें बहुत प्रकार के धागे हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा ये सब मानव-आत्मा की सृष्टि हैं; यद्यपि इनमें प्रदेश, जलवायु और सामाजिक जीवन ने भी कुछ हद तक अपना रंग मिला दिया है। अतः इतिहास की सब पुस्तकों में प्रधान महत्त्व मानवात्मा को दिया जाना चाहिए और प्रदेश और समूह के प्रभाव को दूसरे दर्जे की महत्ता मिलनी चाहिए।

सामाजिक विकास की समस्या के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि विश्वविद्यालय वर्गों का अंग बने रहने के बजाय जन-जीवन से रल-मिल जाय। आरम्भ में जन-जीवन से यह इसलिए सर्वथा अलग था कि साधारण जनों के पास न तो इतना अवकाश था और न इतने आर्थिक साधन कि वे इसमें बराबर प्रवेश कर सकें। यह अलगाव इसलिए बना रहा कि बाजार के कोलाहल और उद्विग्नताओं से दूर रहकर प्रशान्त और पक्षपात-रहित वातावरण में इसके सदस्य सत्य की खोज में लगे रहें। किन्तु अब अवस्था बदल गई है और विश्वविद्यालय मानव-जाति के साधारण जनों की प्रभावयुक्त और सीधी सेवा कर सकता है। यह केवल ऐसा कर ही नहीं सकता, वरन् जन-चेतना की छत्रछाया में साधारण जनों को एकत्रित करने के लिए उसे ऐसा करना भी चाहिए। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि भूतकाल में वर्गों की चेतना साधारण जन की चेतना से बहुत विभिन्न थी, किन्तु उन दोनों के बीच की इस इस मानसिक खाई से उन दिनों वैसे भयावह परिणाम होने का खतरा न था जैसा आजकल है। अगर यह अवस्था बनी रही तो इस बात का पूरा खतरा है कि कहीं सभ्यता का मन्दिर जलकर लाक न हो जाय।

एक और कारण से भी जनसाधारण के जीवन और अरमानों से विश्व-विद्यालय का एकीकरण आवश्यक है। यदि अभाव के विरुद्ध जनसाधारण की वर्तमान क्रान्ति को सृजनात्मक और रचनात्मक दिशा की ओर न ले जाया गया तो यह ज्वालामुखी का ऐसा लावा सिद्ध हो सकता है जो अच्छी-बुरी सभी चीजों का विनाश करदे। इस क्रान्ति को ठीक दिशा में ले जाने की अविलम्ब आवश्यकता है। यदि विश्वविद्यालय, जिसका इस दिशा में अपना कोई निजी स्वार्थ नहीं होना चाहिए, जनसाधारण से सम्पर्क स्थापित करने का निश्चय कर ले तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को अपनी पृष्ठभूमि में यथास्थान रखने का कार्य यह सफलता से कर सकेगा और इस प्रकार जनसाधारण को वह सूझ और समझ दे सकेगा जो उनको अपने निर्वाचन सम्बन्धी अधिकारों को ठीक प्रकार से प्रयुक्त करने में समर्थ करदे।

जनसाधारण से विश्वविद्यालय का मेल इसलिए आवश्यक है कि वह उनमें वंसी चेतना पैदा करे जैसी कि नवयुग के लिए आवश्यक है। हमारे युग की इन दो क्रान्तिकारी शक्तियों का संयोग सम्पन्नता और शान्ति की दुनिया के निर्माण के लिए

तभी होगा जब जनसाधारण भी ऐसी चेतना से अनुप्राणित और संचालित हों ।

इस विचारों की क्रान्ति के सर्वोपरि महत्त्व के संदर्भ में ही मैं राष्ट्रमण्डल के विश्वविद्यालयों के असोसियेशन और इन्टर यूनिवर्सिटीज बोर्ड के संयुक्त सम्मेलन के महत्त्व को आंकता हूँ । मेरा विचार है कि राष्ट्रमण्डलीय विश्वविद्यालयों के नवनिर्माण में यह असोसियेशन महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है । मेरी यह वृद्ध आशा है कि आपके विचार-विनिमय से विश्वविद्यालयों को यह प्रेरणा मिलेगी कि वे आगत युग में विचार-कार्य के क्षेत्र में नेता होने के अपने उचित स्थान को पहचानें और ग्रहण करें और वह आध्यात्मिक और चारित्रिक शक्ति तथा सूक्ष्म प्रदान करें जो उस असीम शक्ति और साधनों का जिन्हें ज्ञान ने मनुष्य के हाथों में दिया है उचित नियन्त्रण और संचालन कर सकती हैं ।

शिक्षा का माध्यम'

प्रापने मुझे जो इच्छत बरुशी है उसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ और साथ ही आपको यकीन दिलाता चाहता हूँ कि मैं हमेशा ही इसकी कद्र करूँगा, क्योंकि यह इस विश्वविद्यालय ने मुझे बरुशी है । यह हमारे देश का सबसे पहला विश्वविद्यालय है जिसने हमारे देश की भाषाओं में से एक को शिक्षा का माध्यम ही नहीं बनाया बल्कि जिसने विज्ञान और कला-सम्बन्धी सभी विषयों पर किताबें लिखवाने और छपवाने के बारे में भी बडा तामीरी काम किया है । अपने तरीके पर और शिक्षा-माध्यम के रूप में चुनी गई भाषा की अपनी सीमाओं के अन्दर जो काम यहाँ हुआ वह मुझे काफी हिम्मत बंधाने वाला लगा । इस सवाल में मैंने उसी वक़्त से दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी जब से कि मैंने सार्वजनिक कामों में हिस्सा लेना शुरू किया था । मुझे इस बात की खुशी है कि इस बारे में अब जनता में काफी जाग्रति हो गई है और आजकल आम तौर पर शिक्षाशास्त्री और पढ़े-लिखे लोग यह मानते हैं कि अगर हमारे तालीम के काम में किसी तरह की ग़ैर-जरूरी और बचाये जा सकने वाले समय या ताक़त की बर्बादी नहीं होनी है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षा देशी भाषाओं में दी जाय । फिर भी हमने अपने सामने जो उद्देश्य रख छोड़े हैं उनको प्राप्त करने के लिए भाषा-नीति के सम्बन्ध में हमारे लोगों के कुछ तबकों के विचारों में काफी धुंधलापन है ।

आपकी अनुमति से मैं यहाँ उसी सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ । मुझे यकीन है कि इस देश में हरएक यह जानता है—कम से-कम में यह चाहता है कि हरएक शरुस यह जाने—कि जिस संविधान को भारत की प्रभुतासम्पन्न जनता ने अपनी संविधान-सभा के द्वारा स्वीकृत किया है उसके अधीन हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस देश में लोकतन्त्रात्मक समाज की स्थापना करें अर्थात् ऐसा समाज कायम करें जिसमें हरएक इन्सान और हरएक जमात को अपनी शरुसियत में छुपी हुई सारी खूबियों को उभाड़ने और हासिल करने के पूरे-पूरे अधिकार और अवसर हों और जिसमें उनमें से हरएक को संघ और राज्य की सरकारों की नीति के बनाने में औरों के बराबर ही मौक़ा हो । शिक्षा-माध्यम या माध्यमों की बात सोचते समय हम सबको

अपने इस लाजमी कर्तव्य को अपने ध्यान में बराबर रखना चाहिए। यह कहने की मुझे आवश्यकता नहीं कि शिक्षा खुद बड़ी ताकत है और कम-से-कम इससे महत्त्व शस्त्र का न तो अपने पूर्ण विकास का ही और न अपने देश और इलाक़े की सरकार की नीति और कामों पर ही अच्छा असर डालने का कोई मौक़ा मिल सकता है। इसलिए यह बात साफ़ तौर पर जाहिर है कि शिक्षा के तरीक़े और जरिये ऐसे नहीं होने चाहिए जो एक आदमी को दूसरे आदमी या एक जमात को दूसरी जमात के मुक़ाबले में किसी तरह का बेजा फ़ायदा पहुँचाते हों।

इस तरह जाहिर है कि प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालय की अर्थात् हर प्रकार की शिक्षा हर एक अच्छे-खासे बड़े भाषावार जमात के लोगों को उनकी अपनी भाषा ही के द्वारा दी जानी चाहिए। तभी दूसरे जमातों के मुक़ाबले में उस जमात को शिक्षा के लाभ प्राप्त करने में ज्यादा समय, रुपया और ताक़त खर्च न करनी पड़ेगी। और दूसरी किसी तरह की नीति का परिणाम यही होगा कि उस जमात के मुक़ाबले में, जिसकी भाषा में इसके बच्चों को शिक्षा लेनी पड़ती है, यह जमात किसी क़द़ बुरी हालत में पड़ जायगी। इसका मतलब यही है कि हर भाषावार इलाक़े में नीची से लेकर ऊँची-से-ऊँची शिक्षा उसी इलाक़े की भाषा में दी जानी चाहिए।

पर साथ ही मैं यह बात भी जोरदार शब्दों में कह देना चाहता हूँ कि ऐसा करना तभी सम्भव होगा जब भाषावार जमात अच्छी-खासी बड़ी हो और एक ही खास अलग इलाक़े में बसी हुई हो। दूसरे इलाक़ों के मुस्तलिफ़ हिस्सों में बहुत छोटी-छोटी टुकड़ियों में बिखरे हुए लोगों की सबसे नीचे दर्जे की शिक्षा के अलावा और तरह की शिक्षा के बारे में यह माँग जायज़ नहीं हो सकती कि उन इलाक़ों की सरकारें उनके बच्चों की मातृभाषा में उनकी हर तरह की शिक्षा का प्रबन्ध करें। इस तरह की माँग के आर्थिक और अन्य प्रकार के नतीजों का अन्वाज्ञा सहज लगाया जा सकता है। भारत के भली प्रकार से जाने हुए भाषावार इलाक़ों में से हर एक में दूसरी भाषाओं के बोलने वाले लोग छोटी-बड़ी संख्या में मिलते ही हैं। अगर इस माँग के मुआफ़िक़ उन इलाक़ों के इन हर भिन्न भाषा-भाषी लोगों के बच्चों की शिक्षा के लिए उस इलाक़े के हर स्कूल, हर कालेज और हर विश्वविद्यालय में अलग-अलग प्रबन्ध करना पड़े तो जाहिर है कि बेहिसाब खर्च होगा। साथ ही राजनीतिक दृष्टि से यह मुनासिब होगा कि किसी इलाक़े में इस तरह से दूसरी ज़बान वाली जमात के बिखरे हुए इने-गिने लोग उस इलाक़े के लोगों से अलग बने रहने और ऐसे विभेदों को, जिनसे उनके धारों और के लोगों की बहुत बड़ी संख्या को उनसे द्वेष और शलत-फ़हमी हो सकती है, बनाये रखने के बजाय उन लोगों में घुल-मिल जायें। आर्थिक

और राजनीतिक असलियत के इस पहलू को लोग ठण्डे दिल से समझ लें तो इस देश की भाषा की उलझन बड़ी हद तक दूर हो जायगी।

हर इलाक़े की भाषा का ऐसा विकास करना और उसके साहित्य के भण्डार को इस तरह बढ़ाना आवश्यक है कि वह आधुनिक और प्राचीन यानी हर प्रकार के ज्ञान का अच्छा वाहन और भरा-पूरा खज़ाना बन जाय और हर इलाक़े की सरकार या सरकारों का यह कर्तव्य है कि जहाँ तक सरकार के किए कुछ हो सकता हो वहाँ तक वे इस तरह के विकास में सहायता करें और प्रोत्साहन दें। यह किसी भी भाषा की मौजूदा शकल और शब्दावली की बुनियाद पर ही आगे तामीर करने से और दूसरी देशी भाषाओं से सहज और स्वाभाविक रीति में हा जो खूबियाँ अपनायी जा सकती हों उनसे इस भाषा को सजाकर चलने से अच्छी तरह किया जा सकता है। इस तरह का भाषा-शुद्धि की कोशिश कि शब्दों, मुहावरों या किन्हीं व्याकरण के नियमों का बहिष्कार केवल इसी कारण कर दिया जाय कि वे बाहर से उधार आ गये थे और शुरू में उस स्रोत से नहीं निकले थे जिससे कि वह भाषा स्वयं निकली है महज नाकामयाब ही न होगी बल्कि भाषा को भी गरीब बना देगी। इसके अलावा हमें अब अपनी ताकत को हर तरह से सहेजकर इसलिए रखना है कि हम उसे अपने देश से गरीबी और अशिक्षा के मिटाने के जरूरी कामों में लगा सकें और इसलिए हम उसको ऐसे किसी काम में, जो अगर गड़बड़ करने वाला न हो तो बिल्कुल ग़र-जरूरी तो हो ही, खर्च नहीं कर सकते। ऐसी भाषा-शुद्धि के पक्ष में मुझे तो कोई भी वजह दिखाई नहीं देती, क्योंकि आखिर जबान तो महज जरिया है और अगर किसी लपज़ को जनता बखूबी समझती है तो कोई वजह नहीं कि उसको इसी आधार पर निकाल बाहर किया जाय कि वह विदेशी है। इसके अलावा भाषा की बढ़ोतरी ऐसी दिशा में होनी चाहिए जिससे वह अपने इलाक़े के अधिकांश लोगों को मान्य हो और उनकी समझ में आती हो। उसकी कथावस्तु, उसकी शैली, उसका शब्दकोष साधारण जनता के जीवन और बोली के ज्यादा नज़दीक होना चाहिए। मेरा यक़ीन है कि समाज की और संस्थाओं के समान ही भाषा को जनता की गोद का सहारा लेने से काफ़ी फ़ायदा होगा।

इलाक़ों की भाषाओं के विकास और बढ़ोतरी की बड़ी आवश्यकता के अतिरिक्त एक और सवाल है जिस पर विचार करना जरूरी है। हमारा देश बहुभाषा-भाषी देश है। हमें एक ऐसी आम भाषा की आवश्यकता है जिसके द्वारा हम मुस्तलिफ़ इलाक़ों में और राष्ट्रीय मामलों में कारबार चला सकें। पूरे सोच-विचार के बाद संविधान सभा ने यह निश्चय किया कि वह भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा है और संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए उसके अंकों का रूप अन्तर्राष्ट्रीय

अंकों का ही रूप होगा । यह सर्वममत्त समभौता था और सब लोगों के हितों की समुचित सुविधा का ध्यान रखकर किया गया था । मेरी समझ में किसी शस्त्र या जमात के लिए यह सोचने की कोई वजह नहीं है कि इस निर्णय से उसके या उसकी जमात के हितों का किसी तरह का नुकसान होगा । इस सम्बन्ध में मैं समझता हूँ कि मेरे लिए यही कहना काफी होगा कि हर भाषावार इलाक़े की शिक्षा-व्यवस्था में संघ-भाषा हिन्दी के पढ़ाने का प्रबन्ध रहना चाहिए । इस बात को खास तौर से कहना इसलिए जरूरी है कि अहिन्दी भाषा-भाषी लोग इस बारे में किसी तरह से दूसरे लोगों के मुक्ताबले में अपने को किसी क्रूर खराब स्थिति में न पायें । अहिन्दी भाषा-भाषियों की शिक्षा-व्यवस्था में कैसे और किस दर्जे में हिन्दी शिक्षा को दाखिल किया जाय इस बात को बिना देर किये तय कर लेना चाहिए और जो भी योजना तय हो, उसे अमल में लाने के लिए क्रम उठाये जाने चाहिएँ जिससे संविधान ने जो मियाद मुकर्रर की है उसके खत्म होते-होते हम संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए अंगरेज़ी के बिना भी काम चला सकें । हैदराबाद राज्य में तीन भाषायें हैं जो लगभग अलग-अलग इलाक़ों के लोग बोलते हैं और यह राज्य इस बात की बड़ी कोशिश करता रहा है कि उर्दू का पूरा विकास किया जाय । मैं उर्दू को उस भाषा की जिसे संविधान ने संघ-भाषा मान लिया है एक शैली या तर्ज़ और रूप ही समझता हूँ; हालाँकि इसकी अपनी लिपि और अपना अलग शब्द-भण्डार है । इसलिए इस राज्य को इस बारे में वैसे ही कुछ सवाल सुलभाने हैं जैसे कि बहुभाषी सारे देश को सुलभाने हैं । अपने भिन्न इलाक़ों की तीन भाषाओं से भिन्न एक भाषा को राज्य की जरूरतों के लिए काम में लाने में तरक्की करने का इस राज्य को सौभाग्य प्राप्त हुआ है । हमें यहाँ इस तरह जो तजुर्बे हुए उनकी भी हिफ़ाज़त करनी चाहिए और उनसे जो भी फ़ायदे और सबक़ मिल सकते हैं लेने चाहिएँ । मैं यह महसूस करता हूँ कि हमारे लिए ये बड़े काम के साबित होंगे क्योंकि हम इस बुनियाद पर आगे काम बढ़ा सकते हैं । इस विश्वविद्यालय का यह फ़र्ज़ और यह खुशकिस्मती है कि वह इस बुनियाद पर ऐसी इमारत बनाये जो इसकी इज्जत बढ़ाये और जिससे हमारे देश का पूरा-पूरा फ़ायदा हो ।

शिक्षा और सामञ्जस्य^१

इस बात से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि आज के भारत और संसार—दोनों के ही सामने ऐसी विषम समस्याएँ हैं जिनके सुलभाने के लिए न केवल वयोवृद्ध लोगों के अनुभव और गुरुता की ही जरूरत है, बल्कि आवश्यकता है युवकों के अव्यय उत्साह, ज्वलंत आशाओं और स्फूर्तिदायिनी शक्ति की भी। यदि यह कहा जाय कि संसार के नवनिर्माण की जिम्मेदारी इन्हीं के सर पर है तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी। कम-से-कम इतनी बात तो स्पष्ट है कि इस नवनिर्माण में कमर कसकर जुट जाना इनके अपने निजी हित में ही है, क्योंकि इनके भावी जीवन का रूप-रंग इसी पर निर्भर करेगा कि आज की समस्याओं को इन्होंने कितनी तत्परता और किस खूबी से सुलभाया।

मैं समझता हूँ कि इन लोगों के लिए यह सौभाग्य की बात है कि इस जिम्मेदारी को सँभालने के लिए मानसिक और चारित्रिक तैयारी करने का अवसर इन्हें दिल्ली जैसे नगर के विश्वविद्यालय में मिला। यह तो सर्वसम्मत बात है कि विद्यार्थियों को जितना ज्ञान शिक्षकों के लेक्चरों और पुस्तकों से प्राप्त होता है उतना ही उस सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण से अनजाने और सहज ही मिलता रहता है जिसके बीच रहकर वे अपना जीवन यापन करते हैं। यह वातावरण जितना हा अच्छा होता है उतना ही विद्यार्थियों का जीवन सुसंस्कृत और सभ्य बनता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो इन युवक-युवतियों को यहाँ रहने और पढ़ने के कारण अमूल्य सांस्कृतिक लाभ हुआ है, क्योंकि दिल्ली के वातावरण में कुछ ऐसी बातें हैं जो सम्भवतः अन्यत्र नहीं मिलतीं। यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि दिल्ली के गली-कूचों में भारत का सारा इतिहास समूर्त होकर बसा हुआ है और इसके निकट के खण्डहरों में तो शताब्दियों की प्रतिध्वनि सुनाई देती रहती है। भारत में और भी बहुत से शहर हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व रखते हैं, पर दिल्ली का इतिहास अनोखा है।

यहाँ इतिहास की तीन धाराओं का संगम हुआ है—ऐसी तीन धाराओं का

१. भाषण : दिल्ली विश्वविद्यालय का २८वाँ समावर्तन-समारोह, ६ दिसम्बर, १९५०।

जो दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों से निकलकर अनेक शताब्दियों और देशों में बहती हुई भारत के इस ऐतिहासिक नगर में मिलकर एक धारा बन गई है और भारतवासियों के जीवन को उर्वर बना रही है और बनाती रहेंगी। इन धाराओं में प्रधान और सबसे प्राचीन वह धारा है जो वैदिक काल या उससे भी पूर्व हमारे देश में बहती रही है और जिसका पुनीत जलामृत हमारे देशवासियों की मानसिक प्यास को सदा तृप्त करता रहा है। उसने हमारे जीवन को हरिश्चन्द्र के वचन-पालन, दधीचि के आत्मोत्सर्ग, शिवि की दया, कर्ण की दानवृत्ति, राम के राजधर्म, कृष्ण के निस्पृह कर्मयोग, बुद्ध की अहिंसा और अशोक के धर्मचक्र के आदर्शों से समृद्ध बनाया है। हमारे जीवन का ऐसा कोई अंश नहीं जिसमें उसका प्रभाव बिध न गया हो और इस कथन में अत्युक्ति न होगी कि जान में या अनजान में वह आज भी प्रतिक्षण हमारे जीवन और विचारों की दिशा को निश्चित करती है। दूसरी धारा वह है जो आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व अरब से बहती हुई हमारे देश में आई और इसी दिल्ली शहर में उस पहली धारा में मिल गई। कौन नहीं जानता कि इसी नगर में उस मिलीजुली भाषा, वेशभूषा, कला, साहित्य और विचार-शैली का जन्म हुआ जो यहाँ के हिन्दू-मुसलमानों की है। उसने हमें कबीर का अनहद नाद सुनाया और सुनाई जायसी की प्रेमगाथा। उसने हमें वह शुभ्रश्वेत प्रस्तर-अश्रु दिया जिसमें शाहजहाँ का शोक मूर्त्तिमान होकर चिरस्थायी हो गया है। आज वह धारा हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन गई है। उसी प्रकार कुछ शताब्दी पूर्व तीसरी धारा सुदूर पश्चिम से समुद्र पार करती हुई हमारे देश में आई और आकर इन दो धाराओं के संगम-स्थल नयी दिल्ली में उनमें मिल गई। उसने हमारे जीवन की गति को तीव्रतम कर दिया, उसके दायरे को बढ़ा दिया और नये विज्ञान और विधियों से हमारे जीवन को नियमित कर दिया। अतः इनमें से प्रत्येक धारा ने हमारी संस्कृति को समृद्ध और उन्नत बनाया है। इन्हीं तीनों धाराओं के इस संगम-तीर्थ दिल्ली में रहने और पढ़ने के कारण आप लोगों को अनायास ही इनके रंग में रंगे जाने का पूरा-पूरा मौक़ा मिला है और मैं समझता हूँ कि आप इनके रंग में रंग भी गये होंगे।

दिल्ली केवल इन ऐतिहासिक धाराओं का ही संगम नहीं, बल्कि भारत और दुनिया के विभिन्न प्रदेशों से बहकर आने वाली जातीय धाराओं का भी संगम-क्षेत्र है। यहाँ भारत की चारों दिशाओं के लोग बसे हुए हैं और भारत का ऐसा कोई प्रदेश या राज्य नहीं जहाँ के अधिवासी इस दिल्ली में व्यापार या वृत्ति या नौकरी के लिए आकर बसे हुए न हों। यह कहना गलत न होगा कि यदि कोई हमारे बहुभाषा-भाषी और विभिन्न रस्म-रिवाज वाले देश का सूक्ष्म रूप देखना चाहे तो उसके लिए दिल्ली देख लेना ही काफ़ी होगा। यहाँ उसको पुरातन और नवीन, उत्तर और दक्षिण, पूर्व

और पश्चिम, हर प्रकार के भारत के एक साथ ही दर्शन हो जायेंगे। इतना ही नहीं आज तीन वर्ष से तो इस दिल्ली नगरी में अमरीका और रूस, इंग्लैंड और चीन, फ्रांस और बर्मा आदि सभी देशों के लोगों से सम्पर्क होता है। सचमुच ही दिल्ली एक सार्वभौमिक संस्कृति और समाज वाला नगर है। ऐसे नगर में विद्याध्ययन करने से आपको सहज ही भारत और संसार की विभिन्न जाति वालों से निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला होगा।

मैं समझता हूँ कि आप लोग स्वयं विभिन्न प्रदेशों और जातियों के हैं और इस विश्वविद्यालय में कंधे से कंधा मिलाकर पढ़ते-खेलते और आनन्द मनाते रहे हैं। अतः आपको सक्रिय रूप में इस बात का अच्छी तरह से अहसास हो गया होगा कि हमारे भविष्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इतिहास की ये तीनों धाराएँ दिल्ली के संगम-तीर्थ में एक होकर हमारे देश में बहें और प्रत्येक ग्राम और नगर और प्रत्येक घर और कार्यालय को जीवन और स्फूर्ति प्रदान करें। हमारे देश के विभिन्न प्रदेशों और जातियों के लोगों के मनो को इस दिल्ली के द्वारा एक सूत्र में—एसे सूत्र में जो हवा से भी पतला है और इस्पात से भी मजबूत—बंध जाना चाहिए। कम-से-कम में तो यह दृढ़ता से कह सकता हूँ कि सांस्कृतिक और प्रादेशिक सामञ्जस्य की ये महान् समस्याएँ हमारे सामने हैं जिन्हें हमें पूरी लगन और समझ-बूझ से हल करना है। मैं समझता हूँ कि इनके हल करने में दिल्ली जैसे विश्वविद्यालय और इसके विद्यार्थियों और स्नातकों का पर्याप्त महत्त्वपूर्ण भाग होना चाहिए। दिल्ली नगर का सांस्कृतिक हृदय होने के नाते इस विश्वविद्यालय का वही सांस्कृतिक और प्रादेशिक चतुराननी रूप है जो दिल्ली का है। इसमें भारत के हर कोने से आये विद्यार्थी हैं। इसमें इतिहास की इन तीन धाराओं में से अलग-अलग एक या एक से अधिक धाराओं में रंगे युवक-युवती हैं—इसमें पुरातन भी हैं और नवीन भी। अतः इसकी तो यह अपनी समस्या है कि यह विभिन्न संस्कृतियों, विभिन्न ऐतिहासिक परम्पराओं और विभिन्न जातियों वाले विद्यार्थियों के जीवन में और मानसिक गठन में सामञ्जस्य स्थापित कर दे और इस प्रकार आन्तरिक सामञ्जस्य वाले युवक और युवतियों को सहस्रों की संख्या में भारत के प्रत्येक प्रदेश में सांस्कृतिक और प्रादेशिक सामञ्जस्य का अग्रदूत और वीर सिपाही बनाकर भेजे। अपनी आन्तरिक शान्ति और अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए ही नहीं, वरन् अपने शिक्षा-धर्म को निभाने के लिए भी इस विश्व-विद्यालय और इसी का क्यों भारत के सारे विश्वविद्यालयों का कर्तव्य है कि वे इस दिशा में और इन समस्याओं को तुरन्त सुलभाने के लिए कार्यरत हो जायें।

शिक्षा का मुख्य ध्येय यही है कि प्रत्येक आदमी के आन्तरिक जगत् में सामञ्जस्य हो और उसका बाह्य जगत् के अन्य प्राणियों से भी सामञ्जस्य हो। यद्यपि बाहरी तौर

पर देखने में तो कोई भी आदमी एक ही लगता है क्योंकि उसके न तो दो मुख दिखाई देते हैं और न आठ हाथ-पांव, किन्तु यदि साधारण तौर पर एक दिखने वाले आदमी के आन्तरिक गठन को देखा जाय तो पता चलेगा कि उस एक के बदले में अनेक आदमी एक साथ ही मौजूद हैं। हमारे पूर्वजों ने दशानन, पंचानन, चतुरानन इत्यादि देवताओं, असुरों और आदमियों की जो कल्पना की थी, वह केवल थोथी कल्पना ही न थी। उसके पीछे यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी था कि ऊपर से दिखने में चाहे कोई कितना ही एक क्यों न लगता हो, किन्तु सम्भव है कि उसके अन्दर अनेक व्यक्ति एक साथ ही मौजूद हों। एक व्यक्ति में अनेक व्यक्ति होने की बात इसीलिए पैदा होती है कि मनुष्य की विवेक-बुद्धि, वासनात्मक बद्धि और भौतिक इन्द्रियों में ऐसा चिर और सहज सामञ्जस्य नहीं है कि वह कभी टूटे ही नहीं। अभ्यास और ज्ञान द्वारा ही उसमें यह सामञ्जस्य क्रायम किया जा सकता है। ज्ञान, कर्म और भक्ति द्वारा इस सामञ्जस्य को स्थापित करने को ही हमारे यहाँ योग कहा जाता था। एक दफ़े योग द्वारा सामञ्जस्य स्थापित हो जाने पर ही यह सामञ्जस्य सर्वदा के लिए क्रायम नहीं हो जाता। प्रतिक्षण इसको बनाये रखने के लिए योग को साधना और तपस्या करनी पड़ती है। क्षण भर की भी गफलत से वह जीवन की कमाई खो सकता है। क्योंकि उतनी ही देर में यह सामञ्जस्य टूट सकता है और वासना उस पर विजय पा सकती है। इसीलिए तो हमारे यहाँ कहावत है कि—या जागे कोई जोगी या जागे कोई भोगी—सच तो यह है कि योगी कभी सोता ही नहीं। उसको सतत जाग्रत रहना होता है ताकि उसका यह आन्तरिक सामञ्जस्य, जिसके द्वारा उसका जीवन सफल होता है और उसे चिरस्थायी आनन्द और सत्य प्राप्त होता है, किसी क्षण भी न टूटे। जिस बात को हमारे पूर्वज योग कहते थे उसी को अपने विद्यार्थियों को देने का काम विश्वविद्यालयों का होना चाहिए। आज के शिक्षाशास्त्री इस बात को मानते हैं कि शिक्षा का ध्येय यही है कि विद्यार्थी के आन्तरिक जगत् में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो जाय और उसका व्यक्तित्व विभक्त और टुकड़े-टुकड़े न रह जाय।

इस प्रकार के विभक्त व्यक्तित्व का खतरा वैसे तो साधारणतया प्रत्येक समाज में और प्रत्येक समूह में बना ही रहता है, किन्तु यह उस समाज में कहीं ज्यादा हो जाता है जहाँ एक साथ ही कई संस्कृतियाँ, कई ऐतिहासिक परम्पराएँ और कई सामाजिक शृंखलाएँ एक स्थान पर ही मौजूद होती हैं। हमारे देश में इस प्रकार की विभिन्नतायें मौजूद हैं और इसलिए हमारे देश में इस बात का पूरा-पूरा खतरा बना रहेगा कि हमारे करोड़ों नर-नारियों का व्यक्तित्व विभक्त बना रहे। यदि कहीं यह बात रही तो हमारा समाज और देश आन्तरिक कलह, द्वेष और अज्ञात मतभेद का शिकार बने रहेंगे और किसी प्रकार की उन्नति और प्रगति न कर सकेंगे।

अतः हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अतिलम्ब ऐसी कार्यवाही कर जिससे हमारे देश का यह खतरा जल्द-से-जल्द दूर हो। यह बात तो स्पष्ट है कि इस खतरे को पुलिस के डण्डे और फ़ौज की बन्दूक से दूर नहीं किया जा सकता और न इसको किसी क़ानून या अदालत के जरिये मिटाया जा सकता है। अगर यह दूर किया जा सकता है तो केवल सत्-शिक्षा के द्वारा और यह काम हमारे विश्वविद्यालय ही कर सकते हैं।

दुर्भाग्यवश जो विश्वविद्यालय हमारे यहाँ कायम हैं उनकी स्थापना ऐसे युग में हुई थी जब शिक्षा उतने से ही पर्याप्त समझी जाती कि वे विद्यार्थियों को अंगरेजी भाषा-साहित्य और भारत में लागू अंगरेजी क़ानून का इतना ज्ञान करा दें कि वे या तो सरकारी दफ़्तरों और नौकरियों के काम करने के लिए योग्य हो जायें या अंगरेजी अदालतों में वकालत और पैरवी कर सकें। इसीलिए भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में अंगरेजी भाषा शिक्षा का माध्यम रखी गई और अंगरेजी साहित्य अनिवार्य विषय रखा गया। यह कैसी विडम्बना थी कि भारत के रहने वालों के लिए अपना साहित्य पढ़ना तो केवल ऐच्छिक विषय था, पर अंगरेजों का साहित्य पढ़ना अनिवार्य था। यह बात लगभग आज तक चली आ रही है। आज भी अधिकतर विश्वविद्यालयों में अंगरेजी भाषा और अंगरेजी साहित्य अनिवार्य विषय बने हुए हैं। मेरा न अंगरेजी से कोई द्वेष है और न अंगरेजी साहित्य के प्रति कोई उदासीनता। मैंने स्वयं अपने विद्यार्थी जीवन में अंगरेजी भाषा और साहित्य में ही सर्वोच्च उपाधि हासिल की थी, किन्तु अंगरेजी भाषा और साहित्य में कितनी ही ख़ूबी क्यों न हो, इस बात से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि उसके अनिवार्य अध्ययन का और अपने साहित्य और संस्कृति की उपेक्षा का यह परिणाम हुआ कि हमारे यहाँ के विद्यार्थियों को विद्याध्ययन में रटने की बुरी आदत पड़ गई। हमारे यहाँ के विद्यार्थियों के खिलाफ़ यह शिकायत बराबर सुनी जाती है कि वे रट्टू पीर होते हैं। पर मैं समझता हूँ कि वे रट्टू इसलिए नहीं हैं कि उनकी मानसिक और शारीरिक बनावट और देशों के विद्यार्थियों से भिन्न है, बल्कि इसलिए कि उस शिक्षा का उनके दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध और सम्पर्क न था जो उन्हें इन विश्वविद्यालयों में दी जाती थी। इन विद्यालयों की दीवारों के बाहर उन्हें अपना दैनिक जीवन, अपने पूर्वजों की आस्था, विश्वास, संस्कृति और भाषा छोड़ आनी पड़ती थी। यह ठीक है कि भारत की ही भूमि पर और भारत के ही आकाश के नीचे इन विद्यालयों की दीवारें और इमारतें बनी हुई थीं, किन्तु उनमें भारत न था। उनमें या तो इंग्लैंड था या यूरोप। वहाँ पढ़ाई जाने वाली बातों का उनके अपने निजी घरेलू और शहरी जीवन से कोई सम्पर्क न होने के कारण उन्हें सड़क में याद रखना सम्भव न था। उन्हें तो उन बातों को

जबबरबस्ती अपनी स्मृति में ठूसना था और इस कारण सिवाय रटन्त के और वे कुछ न कर सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे यहाँ के विद्यार्थियों और युवकों में वह सृजनात्मक शक्ति और वह अदम्य आत्मविश्वास न रहा जिसके बल पर भारतीयों ने विज्ञान, साहित्य, कला और धर्म के क्षेत्रों में शताब्दियों तक अपूर्व कार्य किया था और जिसके बल पर उन्होंने एशिया के महाद्वीप में संस्कृति और धर्म की गंगा उस समय बहा दी थी जब न यात्रा के सहज साधन थे और न प्रोपेगण्डा के ऐसे प्रभावशाली यन्त्र जैसे आजकल मनुष्य के हाथ में हैं।

इससे भी कहीं हानिकर परिणाम यह हुआ कि हमारे शिक्षित भाइयों का व्यक्तित्व विभक्त व्यक्तित्व होने लगा और उन्हें अपने जीवन में पेट भरने के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन न दिखाई पड़ने लगा। इस प्रयोजनहीनता के कारण हमारे देश की कितनी हानि हुई और इन शिक्षित भाइयों का जीवन कितना नीरस हो गया इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अपने इस नीरस जीवन को रसमय बनाने के लिए इन्होंने सिवाय ब्रिज और ताश या टैनिस् के और कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया। यह बात देखने में अचरजभरी अवश्य लगती है कि सरकारी नौकरी करते हुए भी अंगरेज सिविलियन इतिहास, समाज, शासन इत्यादि इत्यादि क्षेत्रों में पर्याप्त लेखन-कार्य कर सके, पर भारतीय शिक्षित राजकर्मचारियों में से इक्के-बुक्के को ही ऐसा करने की प्रेरणा हुई। पर मैं समझा हूँ कि यह बात इसीलिए हुई कि अंगरेजों के व्यक्तित्व में उतनी विभक्ति न थी, जितनी कि अंगरेजी शिक्षित भारतीयों में थी और इसीलिए ये भारतीय अपनी इस विभक्तता के कारण पूर्णतया मानसिक अपाहज बन गये थे। जहाँ विश्व-विद्यालयों का यह कार्य होना चाहिए कि वे व्यक्तित्व में सामञ्जस्य क्रायम करें, वहाँ हमारे विश्वविद्यालय उसको अंगरेजी भाषा और अंगरेजी साहित्य की कुल्हाड़ी से टुकड़े-टुकड़े करते रहे। हाँ, वर्षों की इस कार्यवाही के पश्चात् हमारे यहाँ कुछ भारतीय ऐसे हो गये हैं जो भारत की भूमि में भी केवल इंग्लैंड के वातावरण के ही सम्पर्क में आते हैं। उनका अपना घरेलू रहन-सहन, दाम्पत्य जीवन, घर और बाजार की बातचीत और खत-किताबत की लिखने-पढ़ने की भाषा, खाने-पीने का ढंग, वेवभूषा सभी कुछ अंगरेजी हो गई है और इस कारण आरम्भ में जो अंगरेजी साहित्य और अंगरेजी भाषा से व्यक्तित्व में विभक्तता होती थी, उसकी मात्रा उन कुछ लोगों के जीवन में कम होने लगी, पर फिर भी वह न तो बिलकुल दूर हो सकती थी और न हुई।

बौद्धिक क्षेत्र में इसके कारण जो हानि हुई, उससे कहीं अधिक हानि इतने सामाजिक क्षेत्र में हुई। इन विश्वविद्यालयों के शिक्षित लोगों को उन लोगों के प्रति उदासीनता या उपेक्षा-भाव अथवा घृणा तक होने लगी जो अंगरेजी शिक्षा, साहित्य और संस्कृति से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसलिए भारत के नगर-नगर में संस्कृति की ऐसी

अभेद्य बीवार खड़ी होने लगी जिसकी एक तरफ़ इंग्लैंड के मानस पुत्र थे और दूसरी ओर भारतीय । गरीब-अमीर की दुनिया तो अलग होती ही थी अब अंगरेजी पढ़ों और बे अंगरेजी पढ़ों की दुनिया भी अलग होने लगी और इस प्रकार जो सामूहिक उद्योग और प्रयास किये जा सकते थे उनकी सुविधा न रही । इस बीवार के दोनों ओर रहने वालों में आपस में शंका और द्वेष का वातावरण बढ़ने लगा और एक दूसरे का परिहास उड़ाने और एक दूसरे की दुखालफ़्त करने की भावना बढ़ने लगी । जहाँ नागरिक जीवन में इस प्रकार की विभक्तता पैदा हुई वहाँ ग्रामीण जीवन तो विनष्ट ही हो गया । ग्रामों में अंगरेजी रहन-सहन बरतने वालों की संख्या अधिक न हो सकती थी क्योंकि उस तरह के रहन-सहन में अधिक खर्च पड़ता है और ग्रामवासियों के पास इतना फालतू धन था ही कहाँ ? साथ ही ग्रामों में वे सुविधाएँ भी न थीं जो अंगरेजी पढ़े-लिखे लोग चाहते थे । नतीजा यह हुआ कि अंगरेजी द्वारा शिक्षित भारत का सम्पर्क ग्रामीण भारत से बिलकुल टूटता गया । भारत के इतिहास में इससे पहले कभी यह न हुआ था कि शिक्षित लोग ग्रामों में न रहें और न जायें । सर्वदा ही पण्डित लोग ग्रामों में जाते थे और अनेक तो वहीं रहते थे और कथा, गाथा इत्यादि से ग्रामों का जीवन सुसंस्कृत और सभ्य बना रहता था । अंगरेजी काल से पहले नगर और ग्राम की संस्कृति में कोई खाई न थी और उस समय ग्रामवासियों और साधारण स्थिति के नगरवासियों की वेशभूषा, खानपान और रहन-सहन में कोई बड़ा अन्तर नहीं दिखाई देता था । इसीलिए उस ज़माने में नगर और ग्राम में रोटी-बेटी का सम्बन्ध बड़ा गहरा रहता था । शहर की बेटी ग्राम में ब्याही जाती थी और ग्राम की शहर में । पर ऐसा होने से किसी को भी संस्कृति-भेद न होने के कारण कोई कष्ट या असुविधा न होती थी । पर अंगरेजी राज्यकाल में नगर और ग्राम में संस्कृति की दृष्टि से इतना अन्तर हो गया कि अंगरेजी शहर की बेटी गाँव में ब्याही जाती तो उसे काफ़ी तकलीफ़ और दुःख भोगना पड़ता । इसलिए नगर और ग्राम के सामाजिक सम्बन्ध और भी टूटने लगे और दोनों का सम्बन्ध केवल इतना रह गया कि ग्रामवासी शहर में आकर नाज बेच जायें और कपड़ा मोल ले जायें । नगर और ग्राम के बीच इस प्रकार की खाई बढ़ जाने से देश और भी पंगु होने लगा । साथ ही इस प्रकार की शिक्षा से ग्राम को यह हानि हुई कि उस के ऐसे वासी जिनकी बुद्धि कुशाग्र थी अथवा जो अन्यथा सक्रिय थे, ग्राम को छोड़कर नगर में बसने लगे । जो भी ग्राम का चतुर विद्यार्थी अंगरेजी शिक्षा प्राप्त कर लेता था वह तो अपनी अंगरेजी मनोवृत्ति के कारण भारतीय ग्राम में रहने की बात सोच ही न सकता था । फल यह हुआ कि जैसे सोखता पानी को पूरी तरह सोख लेता है उसी तरह ये विश्वविद्यालय बुद्धि-कुशाग्रता को ग्रामों से सोखने लगे और वहाँ केवल बही लोग बच गये जो बुद्धि में या चातुरी में पिछड़े हुए थे । जहाँ पहले ग्राम की बुद्धि

ग्राम के ही आर्थिक और सामाजिक जीवन में लगती थी वहाँ अब वह ग्राम से सर्वथा चली आई और शहरों में रहने लगी। इस प्रकार इस शिक्षा-प्रणाली के कारण हमारे ग्राम अंधेरे और अशिक्षा के घर बन गये। इस तरह जिनका काम जाति को अमृत दान करना था वही उसको विष का प्याला पिलाते रहे।

अंगरेजों के जमाने में इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली का कोई भी आर्थिक और राजनैतिक महत्त्व क्यों न रहा हो, अब तो न वह है और न रहना चाहिए। हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि संस्कृति और धन की दौड़ में और देशों में और हम में जो अन्तर पड़ गया है उसे जल्दी-से-जल्दी दूर कर दें। यदि हमने इस बारे में कोई ढील डाली या इसको पूरा न कर सके तो हमारी आजादी तो खतरे में पड़ेगी ही, हमारा अस्तित्व भी खतरे में पड़ जायगा। इस अन्तर को दूर करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम में से हर एक पूर्ण एकाग्रता से और हमारी सारी जाति पूर्ण एकता और लगन से इस काम में जुट जाय। पर यह तो तभी हो सकेगा जब हमारे वैयक्तिक और सानूहिक जीवन में जो विभक्तता और खाइयाँ पैदा हो गई हैं, वे पूरी तरह से दूर हो जायँ।

इसका अर्थ यह है कि हमें दो प्रकार के कदम तुरन्त उठाने चाहिए। पहली बात, जिसकी हमें अत्यन्त आवश्यकता है, वह यह है कि इतिहास की इन तीन परम्पराओं के बारे में यह तय कर लें कि इनमें हमें कैसे सामञ्जस्य स्थापित करना है। प्रत्यक्ष है कि यूरोप और अरब की दोनों धाराओं को यहाँ की मुख्य धारा में मिलना है। यह बात मैं इसलिए नहीं कहता कि मैं यहाँ की प्रथम धारा को अरब या यूरोप की धारा से सांस्कृतिक या आध्यात्मिक दृष्टि से बेहतर समझता हूँ। मेरी दृष्टि में बेहतर और बबतरी का प्रश्न नहीं है। मेरे सामने तो केवल यही बात है कि प्रथम धारा हमारे देश के लगभग सभी आदिमियों के सांस्कृतिक जीवन की बुनियाद में मौजूद है। कम-से-कम यह तो अकाट्य सत्य है कि वह यहाँ के ६० प्रतिशत वासियों के जीवन का सहारा है। अतः चाहे फिर यूरोप या अरब वाली धाराएँ पहली से अच्छी ही क्यों न हों, यह प्रयास सर्वथा असफल होगा कि प्रथम धारा को रोककर या बाँध बाँधकर अपने रास्ते से हटाकर बाव वाली धाराओं में जबरदस्ती मिला दिया जाय। प्रथम धारा से दूसरी धाराओं के मिलाने का अर्थ केवल इतना ही है कि वे अपने विशिष्ट तत्त्वों को प्रथम धारा के साथ प्रत्येक भारतीय के जीवन में पहुँचा दें और प्रत्येक भारतीय को उनका लाभ मिले। शालिब के अश्वार और शेक्सपीयर के ड्रामे महज कुछ चन्द लोगों की सम्पत्ति न रहकर अधिक-से-अधिक भारतवासियों की सम्पत्ति हो जायँ। साथ ही आज जो लोग प्रथम धारा की कृतियों से नफरत करते हैं, वे कम-से-कम इस बात के जानने की तो कोशिश करें कि उन कृतियों में कोई खूबी है या नहीं। हमारे देश के रहने वाले हर

एक शरुस का फ़र्ज है कि वह इन धाराओं की सांस्कृतिक देन को घृणा की या उपेक्षा की दृष्टि से न देखे, वरन् उन सबको चाव से पढ़े। जब मैं शेक्सपीयर के ड्रामों की या शालिब के अश्रार की बात कहता हूँ तो उसका यह मतलब नहीं कि उन्हें अंगरेजी या फ़ारसी से लदी हुई हिन्दवी ज़बान में ही पढ़ना हर भारतवासी को ज़रूरी है। जो उन ज़बानों में उन्हें पढ़ना चाहते हैं या पढ़ सकते हैं, शौक से पढ़ें; पर जो लोग इन ज़बानों को नहीं समझते, उनको ये सब अपनी ही भाषा में लभ्य होना चाहिए अर्थात् विश्वविद्यालयों को यह प्रयत्न करना चाहिए कि वे यूरोप और अरब और इनके अलावा अन्य ऐतिहासिक परम्पराओं की सांस्कृतिक कृतियों का अनुवाद कराये और उनको विद्यार्थियों को मुहैया करे। पाठ्य-पुस्तकों में कुछ सबक ऐसे होने चाहिए जिन से इन ऐतिहासिक परम्पराओं का पता चले और उनकी कृतियों का आनन्द प्राप्त हो। यदि हम इस बारे में अपने सब भाइयों को साथ लेकर चले तो हमें अपने मकसद को पूरा करने में बड़ी जल्दी कामयाबी होगी। मैं समझता हूँ कि हमारी जनता और हमारे बुद्धिजीवी लोगों के बीच की बीवार तभी टूट सकती है और उनके बीच की खाई तभी पट सकती है जब ये बुद्धिजीवी लोग अन्य भारतीयों में हिले-मिले रहें और इनकी अलग जाति न बन जाय। इस बारे में यह कह देना मैं ज़रूरी समझता हूँ कि राष्ट्रपिता गान्धी जी की सबसे बड़ी देन हमें यही थी कि उन्होंने अपने चर्खें, खादी, तीसरे दर्जे के सफ़र और भारतीय वेशभूषा के द्वारा हमारे शिक्षित वर्ग और जनता के टूटे हुए सम्बन्धों को जोड़ दिया था और इस प्रकार जाति को वह शक्ति, वह उत्साह और वह स्फूर्ति प्रदान कर दी थी जो शताब्दियों से उसमें न थी। हमें इस बात का ध्यान रखना है कि वह बनी-बनाई एकता कहीं हमारी नासमझी से फिर न टूट जाय। आज ऐसे कुछ पढ़े-लिखे लोग हैं जो यह समझते हैं कि गान्धी जी ने हमारा जो भारतीय-करण किया था वह अंग्रेजों के खिलाफ़ लड़ने के लिए तो ठीक था, किन्तु अब वह न केवल अनावश्यक है वरन् प्रतिक्रियावादी भी है। मैं समझता हूँ कि ऐसे लोगों ने यह बात नहीं पहचानी कि जनता के हृदय से सम्पर्क टूटने के बराबर और कोई हानिकर और प्रतिक्रियावादी क़दम न होगा। हमें प्रगति करनी है, हमें अपने देश में ज्ञान, साहित्य और कला का प्रसार करना है, पर इसका यह तरीका नहीं कि हम जनता के हृदय से अपने को काटकर अलग कर लें। मैं समझता हूँ कि भारतीय वेशभूषा में भी विज्ञान का अध्ययन उसी खूबी से किया जा सकता है जैसा कि और किसी वेष में। भारतीय भाषा में साहित्य पढ़ने से उसका आनन्द जाता रहे, ऐसी बात तो नज़र नहीं आती, फिर व्यर्थ मैं हम जनता से अपना सम्पर्क क्यों काट दें? इसलिए मैं यह बल-पूर्वक कहना चाहता हूँ कि विश्वविद्यालयों को भारतीय ऐतिहासिक परम्परा की उपेक्षा अब न करनी चाहिए और अपने अनिवार्य विषयों में भारतीय साहित्य को रखना

चाहिए। साथ ही उन्हें इस बात का प्रयास करना चाहिए कि जितनी जल्दी हो सके वे भारतीय भाषा या भाषाओं के माध्यम द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध करें, क्योंकि ऐसा करने से ही समाज और व्यक्ति के व्यक्तित्व में जो विभक्तता मौजूब है, वह दूर की जा सकेगी।

दूसरा क़दम जो मैं जरूरी समझता हूँ यह है कि हम यह मान लें कि अब इस बात का समय आ गया है कि ये विश्वविद्यालय ग्रामों की बुद्धि के सोझा न होकर उसे ब्याजसहित गाँवों को वापस देने की संस्था बन जायें। यह बात तभी हो सकती है जब इन विश्वविद्यालयों का जीवन ऐसा न हो जो ग्राम से सर्वथा भिन्न है। मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि ग्रामीण जीवन की बुराइयों को हम विश्वविद्यालय के जीवन में स्थान दें। पर मैं यह जरूर समझता हूँ कि इसके जीवन में तड़क-भड़क और फ़ैशनपरस्ती की कोई आवश्यकता नहीं और न ये बातें उसमें होनी चाहिएँ। बापू के आश्रम में जीवन ग्रामीण जीवन-सा ही था। हाँ, उसमें ग्रामों के बोध न थे। मेरा विचार है कि हमें बहुत-कुछ उसी तरह का जीवन इन विश्वविद्यालयों में रखना चाहिए। यदि हम ऐसा कर सके तो यहाँ के विद्यार्थियों को ग्रामों में जाकर उनको प्रगतिशील और सभ्य बनाने में कोई मानसिक या सांस्कृतिक हिचकिचाहट न होगी।

यदि विश्वविद्यालयों में जीवन के प्रति दृष्टिकोण का ऐसा परिवर्तन हो गया तो मैं समझता हूँ कि आज नगरों में जो सांस्कृतिक दीवारें खड़ी हो गई हैं, आज ग्राम और नगर का जो सम्बन्ध बिलकुल टूट गया है और आज ग्राम से जो बुद्धि और कौशल नगरों में व्यर्थ खिंचा चला आ रहा है और आज हमारे शिक्षितों के व्यक्तित्व में जो विभक्तता है, उन सबकी बहुत-कुछ समाप्ति हो जायगी।

विश्वविद्यालयों में इस प्रकार दृष्टिकोण के क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का भार विश्वविद्यालयों के संचालकों का है। यदि वे यह मानते हैं कि ये विश्वविद्यालय भारतीय जनता के सेवक हैं और इन्हीं के द्वारा जन-जीवन में ज्ञान की ज्योति और आदर्श का प्रेम फैलाया जा सकता है और यदि वे अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि भारतीय जन-जीवन में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने वाले सिपाहियों को उन्हें पंदा करना है, तो मैं समझता हूँ कि वे इस बारे में विचारपूर्वक सक्रिय क़दम उठायेंगे।

साथ ही आप स्नातक और स्नातिकाओं का कर्तव्य है कि आप अपने देशवासियों के प्रति उस कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए जो उन्होंने अपनी गाढ़ी कमाई से आपको शिक्षा देकर आप पर लाद दी है और साथ ही उनसे स्नेह और सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध कायम करने के लिए और उनकी सेवा के लिए अपने को उत्सर्ग कर दें। लाखों घरों और भोंपड़ियों में आपको प्रकाश पहुँचाना है। आपके पास वह ज्योति है जो दूसरों को ज्योति देने से और बढ़ती है। आपके पास वह

धन है जो जितना ही दान में दिया जाय बढ़ता ही जाता है । आप इनको देकर भारत के बच्चे-बच्चे में नवजीवन की लहर भर सकते हैं । सुदृढ़ विश्वास और मजबूत कदमों से आगे बढ़िए और इतिहास की और अपने देश-भाइयों की आकांक्षा इस कर्तव्य को निभाकर पूरी कीजिए ।

शिक्षा की नयी रूपरेखा^१

आप जानते हैं कि हाल ही में गवर्नमेण्ट ने एक यूनिवर्सिटी कमीशन मुकर्रर कया था जिसके प्रधान डॉक्टर राधाकृष्णन् थे और जिसमें इस देश के अलावे इंग्लैंड और अमेरिका के भी विद्वान् सदस्य थे। उन्होंने परिश्रम करके सभी विश्व-विद्यालयों की अध्यापन-पद्धति और दूसरी बातों की जाँच की है और एक बड़ी व्यापक रिपोर्ट दी है जिसमें शिक्षा के सभी पहलुओं पर बहुत गहराई से विचार किया गया है और बहुत ही मार्क का सुभाव दिया गया है। मैं समझता हूँ कि भारतवर्ष की सभी यूनिवर्सिटियाँ उस रिपोर्ट पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगी और आप भी उसमें से जो कुछ आपके योग्य बताया गया हो मंजूर करेंगे। मैं केवल एक विषय की ओर आपका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। दो कारणों से इस सूबे का उस विषय से विशेष सम्बन्ध है। एक तो यह है कि इस सूबे में इन्हीं ३०-३५ वर्षों के अन्दर शिक्षा का प्रचार बहुत बढ़ा है। स्कूलों की संख्या तो बहुत बढ़ी ही है, कालेजों की संख्या भी बहुत बढ़ी है और बढ़ती जा रही है। पर शिक्षा-पद्धति में और कार्यक्रम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। जो कुछ पटना यूनिवर्सिटी के अनुसार चल रहा था उसी को घटा-बढ़ाकर इन नये खोले गये स्कूलों तथा कालेजों में भी जारी रखा गया है और इस बात की भी कोशिश हो रही है कि नयी यूनिवर्सिटियाँ भी क्रायम की जायँ। यह सन्तोष की बात है कि लोगों में शिक्षा सम्बन्धी उत्साह और दिलचस्पी देखने में आ रही है, पर इतना ही काफी नहीं है। उस उत्साह का अच्छे-से-अच्छा उपयोग किया जाय तभी उससे अपेक्षित अच्छा फल निकल सकता है।

हमारी शिक्षा-पद्धति की बड़ी त्रुटि यह रही है कि जो लोग यूनिवर्सिटी से पढ़कर निकलते हैं वह उनको न तो किसी विशेष धन्धे के योग्य बनाती है और न उन्हें ऐसी व्यापक विद्या ही देती है कि आधुनिक दुनिया के शिक्षित समाज में उनको कोई अच्छा स्थान मिल सके। इस तरह वह विद्या न तो अर्थकारी होती है और न ज्ञानदायी। एक बुरा नतीजा यह भी होता है कि जो शिक्षा पा लेते हैं वह हाथ से काम करने और शरीर-श्रम को हेच निगाह से देखने लगते हैं। बहुत वर्षों की बात है, मेरे गाँव के नज़दीक के एक लड़के ने जिसके घर के लोगों से मेरा परिचय था, मेरे पास

पत्र लिखा कि मैं मेट्रिकुलेशन परीक्षा पास कर चुका हूँ, मुझे कोई नौकरी दिलवा दीजिए। मैं अब घर का वह काम नहीं कर सकता जो और लोग करते हैं। वह अच्छे किसान-घर का लड़का था और घर के लोग खेती करके सुख से रहा करते थे। उस काम को करने में वह अपने को असमर्थ पाता था और नौकरी की फ़िक्र में था जिसमें न तो कोई विशेष प्रतिष्ठा मिलती है और न बहुत पैसे। मैंने इसमें उसका कोई दोष नहीं देखा। यह दोष शिक्षा-पद्धति का था कि वह अपने खानदानी काम को तुच्छ समझने लगा और किसी नये अच्छे काम के योग्य भी नहीं हुआ। यही सिलसिला अब बहुत जोरों से और बहुत बड़े पैमाने पर इस देश में बढ़ गया है और बढ़ता ही जा रहा है जिसका नतीजा दो प्रकार से देश के लिए बहुत ही हानिकर हो रहा है। यों तो अक्षर-ज्ञान से और थोड़ा-बहुत जो कुछ स्कूलों में और कालेजों में लोग सीख लेते हैं उससे उनको कुछ-न-कुछ लाभ पहुँचता ही है, पर समाज को दो विशेष नुकसान पहुँचते हैं। पहली बात तो यह होती है कि इस प्रकार से शिक्षित होने वाले अपनी जैसी योग्यता समझते हैं, उसकी दूसरे न तो उतनी कद्र करते हैं और न जितनी आशा लेकर वे शिक्षा समाप्त करते हैं, वह समाज पूरी करता है और इसका नतीजा यह होता है कि उनके दिलों में समाज और अपनी सारी ज़िन्दगी के प्रति एक प्रकार का द्वेष और संघर्ष पैदा हो जाता है और उनकी सारी ज़िन्दगी निराशापूर्ण हो जाती है। वह एक हतोत्साह और थके हुए मनुष्य की तरह नवजवानी से ही अपने दिन गिनने लगते हैं, और किसी चीज़ में न तो उनकी दिलचस्पी रह जाती है और न कोई जीवन में उच्चाभिलाषा। दूसरे, वह जो कुछ सीखते और जानते हैं उसका लाभ गाँवों को नहीं मिलता, क्योंकि इस प्रकार के शिक्षित लोग गाँवों में रहना पसन्द नहीं करते। उनकी ज़िन्दगी ही ऐसी बन जाती है कि वह शहर की चहल-पहल को पसन्द करने लगते हैं और इतने अधिक शिक्षित लोगों के बावजूद हमारे गाँव जैसे-के-तैसे रह जाते हैं। शहरों की आबादी बहुत बढ़ती जा रही है। शिक्षित, उत्साही और उच्चाभिलाषी, सभी लोग गाँव को छोड़कर शहरों में आ जाते हैं, चाहे वहाँ अपने पर उनकी कुछ भी दुर्गति हो। गाँवों की स्वस्थ ज़िन्दगी उनसे छूट जाती है और शहरों का सुख बहुत थोड़े ही लोगों को नसीब होता है। इस तरह एक ओर समाज के प्रति असन्तोष और द्वेष की भावना बढ़ती है और दूसरी ओर जो गाँवों को उन्नत बना सकते थे, वह असफल मनोरथ होकर शहरवासी बन जाते हैं। इससे देश का कितना बड़ा नुकसान होता है इसका अनुमान लगाना कठिन है। जिन लोगों ने इस विषय का अनुसंधान किया है उनका कहना है कि जो लोग गाँव से अकार शहरों में बसते हैं उनका पेशा तीन-चार पीढ़ी से अधिक नहीं चलता और इस तरह अच्छे-से-अच्छे लोग गाँव से शहरों में आकर अपनी समाप्ति कर देते हैं। इसलिए इन स्कूलों, कालेजों तथा

यूनिवर्सिटियों को बढ़ाते चले जाने के पहले इस विषय पर हमको सोचना चाहिए कि क्या इस पद्धति को जारी रखना जरूरी है और क्या इससे सचमुच हम लाभ उठा रहे हैं या केवल भेड़ियाघसान कर रहे हैं।

इसके अलावा इस प्रान्त में एक बड़े मार्क का काम हुआ है। जब सन् १९३८ में महात्मा गान्धी जी ने नयी तालीम की योजना देश के सामने रखी तो सभी प्रान्तों में कुछ-न-कुछ काम शुरू किया गया। इस प्रान्त का यह सौभाग्य रहा कि यद्यपि वह प्रयोग छोटे पैमाने पर शुरू किया गया, तथापि वह किसी-न-किसी तरह एक प्रकार से पूरा हो सका और देखा गया कि यद्यपि वातावरण और परिस्थिति पूरी तरह से अनुकूल नहीं थी तो भी जो सुविधा मिली उससे ही वह प्रयोग सफल साबित हुआ। मैंने सुना है और मुझे यह जानकर बड़ा सन्तोष हुआ है कि अब उसको और भी बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इससे भी बढ़कर सन्तोष का विषय यह है कि जनता इस विषय में बहुत दिलचस्पी ले रही है और अपनी दिलचस्पी और उत्साह को क्रियात्मक रूप में जमीन का दान देकर और दूसरे प्रकार से पूरा कर रही है। इसका अधिक प्रसार और प्रचार हो रहा है और मैं इसमें बहुत आशा के चिह्न देख रहा हूँ।

यूनिवर्सिटी कमीशन की रिपोर्ट में एक बड़ा अध्याय ग्रामीण यूनिवर्सिटी के नाम से दिया गया है। इसमें यह दिखलाया गया है कि जो नयी तालीम या बुनियादी तालीम गान्धी जी ने आरम्भ की थी उसको और भी किस तरह बढ़ाया जा सकता है, उच्च शिक्षा किस तरह गाँवों में रहते हुए लोगों को दी जा सकती है और किस तरह उच्च शिक्षा को पाकर भी लोग गाँवों में रहते हुए स्वयं अधिक सुखी रह सकते हैं और साथ ही गाँवों की भी उन्नति कर सकते हैं। इसलिए मैंने कहा कि उस रिपोर्ट के इस अध्याय का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यहाँ प्रचलित प्रथा के अनुसार विद्यालय बढ़ते जा रहे हैं और उनके द्वारा गाँवों के हित के बदले अहित होना अधिक सम्भव है। यदि इस पद्धति का रुख बदल दिया जाय जिसके लिए बुनियादी तालीम ने बुनियाद डाल दी है और जमीन तैयार कर दी है तो सारे प्रान्त का सुधार हो जाय और उसकी हालत ही बहुत कुछ बदल जाय। मैं चाहता हूँ कि यूनिवर्सिटी के लोग और दूसरे लोग जो शिक्षा में दिलचस्पी रखते हैं इस विषय का अध्ययन करें और शिक्षालयों का रुख, कार्यक्रम और शिक्षा-पद्धति बदल दें जिससे जो लाभ रिपोर्ट में नयी पद्धति में दिखलाया गया है वह हम उठा सकें, जो उत्साह आज जनता में देखने में आ रहा है उसका सदुपयोग हो जाय और जिस तरह हम बुनियादी तालीम के प्रयोग में आगे रहे हैं उसी तरह इस प्रयोग के नतीजे में पूरा-पूरा लाभ उठाकर जो नयी विशा ग्रामीण यूनिवर्सिटी कायम करने की ओर रिपोर्ट में दिखलाई गई है उस ओर हम आगे

बढ़ें। जो लोग नये कालेज और नयी यूनिवर्सिटी खोलने की फ़िक्र में हैं उनसे मेरा अनुरोध है कि विशेषकर इस विषय पर विचार करें और लकीर के फ़कीर न बनकर नये रास्ते पर चलकर देश का लाभ करें।

रिपोर्ट में कहा गया है कि यूनिवर्सिटी कमीशन ने यह विचार डेनमार्क के गाँवों के लिए वहाँ की ग्रामीण शिक्षा-पद्धति द्वारा जो कुछ किया गया है उससे और जो बुनियादी तालीम की नींव गान्धी जी ने डाली थी उससे प्रभावित होकर किया है। डेनमार्क यद्यपि एक छोटा-सा देश है जिसकी सारी आबादी ४० लाख के लगभग है, तथापि वह एक सुखी लोगों का देश है। उसमें सभी लोग शिक्षित भी हैं और उसमें धनी के धन और गरीब की गरीबी में इतना बड़ा अन्तर नहीं है जितना और देशों के धनी और गरीबों में पाया जाता है। सभी लोग प्रायः मध्यम वृत्ति के हैं और बिना किसी दूसरे देश और दूसरे लोगों के साथ इस प्रकार का विशेष सम्बन्ध रखे हुए जो यूरोप के अनेक देश एशिया और अफ्रीका के देशों के साथ सम्बन्ध रखते हैं वह सुखी हैं। अन्य सब बातों में भी वह यूरोप के दूसरे देशों के मुकाबले में कम उन्नत नहीं हैं, बल्कि कई बातों में यूरोप के लोग ही उसे अधिक उन्नत मानते हैं। इसका एक विशेष कारण उनकी शिक्षा-पद्धति है जिसका आरम्भिक भाग बुनियादी शिक्षा में और अन्तिम श्रेणी ग्रामीण यूनिवर्सिटी में देखी जा सकती है। यह नयी पद्धति केवल हमारी शिक्षा में ही श्रान्ति नहीं लायेगी, अपितु हमारे जीवन में भी क्रान्ति लायेगी। इससे अन्य लाभ तो होंगे ही, हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का भी आधुनिक विज्ञान के साथ ऐसा सुन्दर समन्वय हो जायगा कि वह सबके जीवन के लिए एक आदर्श रूप होगा। इसलिए मैं चाहता हूँ कि जो लोग बिहार में नयी यूनिवर्सिटी स्थापित करने की सोच रहे हैं, वह केवल पुरानी यूनिवर्सिटियों की नक़ल करके ही सन्तुष्ट न हों, इस ग्रामीण यूनिवर्सिटी की योजना को ही मानकर अपना काम पूरा करें। जब से मेरा सम्पर्क पूज्य महात्मा गान्धी जी के साथ हुआ तब से ही मेरा आदर मौजूदा पद्धति और शिक्षा-संस्थाओं के प्रति कम हो गया और यद्यपि मेरे कई मित्रों ने पुराने ढर्रे की संस्थाओं की स्थापना के लिए बहुत परिश्रम किया, तथापि मुझे कोई विशेष दिलचस्पी उसमें नहीं रही। मैं राष्ट्रीय विद्यालयों और नयी तालीम के साथ काफ़ी दिलचस्पी रखता रहा हूँ और आज जब प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना हो गई है और यूनिवर्सिटी कमीशन की सिफ़ारिशों सामने आ गई हैं तो मेरी दिलचस्पी इस नयी तालीम में और ग्रामीण यूनिवर्सिटी में और भी बढ़ गई है और मैं चाहता हूँ कि यह प्रयोग जिसे बिहार ने सफलतापूर्वक चलाया है, आगे की सीढ़ियों पर बढ़े और ग्रामीण यूनिवर्सिटी की स्थापना सबसे पहले करके नया आदर्श देश के सामने रखे।

ग्रामीण यूनिवर्सिटी के अलावे मौजूदा यूनिवर्सिटी के सुधार के लिए और उनका प्रगति के लिए नयी दिशा का निर्देश भी बहुत ही सुन्दरता और गम्भीरता के साथ यूनिवर्सिटी कमीशन ने किया है। मैं उसकी चन्द सिफारिशों की और आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जिससे इस यूनिवर्सिटी को और इससे सम्बद्ध स्कूलों और कालेजों को आप सुधार सकें। मैं यहाँ केवल इशारा मात्र कर सकता हूँ। पूरी सिफारिश और उसके महत्त्व को समझने के लिए तो रिपोर्ट को ही पढ़ना चाहिए। गणराज्य की सफलता के लिए उन लोगों में, जिनके हाथों में अधिकार दिया गया है, कुछ गुण होने चाहिए। लोग बहुधा यह कह दिया करते हैं कि इस देश के लोग निरक्षर हैं इसलिए वह बालिग मताधिकार का ठीक उपयोग नहीं करेंगे। मैं यह नहीं मानता हूँ। मेरा विचार है कि अक्षर-ज्ञान के बिना भी हमारे देश के लोगों में संस्कृति की ऐसी पुट है और साधारणतया उनमें इतनी बुद्धि और विवेक है कि यदि उन्हें उनके स्वत्वों और दायित्वों को ठीक समझा दिया जाय तो वे इस अधिकार का सन्तुष्य करेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं अक्षर-ज्ञान और पुस्तकीय ज्ञान को महत्त्व नहीं देता हूँ। उनका महत्त्व है पर मैं नहीं मानता कि जब तक वह ज्ञान जनता को प्राप्त न हो जाय तब तक वह निकम्मी बनी रहेगी। बात यह है कि जिस प्रकार का पुस्तकीय ज्ञान आज हमको मिलता है वह कुछ बहुत काम का नहीं है। विशेष-कर नयी परिस्थिति में उससे उतना काम नहीं निकलेगा जितने की हम अपेक्षा करते हैं। यूनिवर्सिटी कमीशन ने इस बात को समझकर प्रचलित पद्धति में हेरफेर करने की सिफारिश की है। एक मार्क की सिफारिश यह है कि किसी विशेष विषय के ज्ञान से ही हमको सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। विशेष ज्ञान के पहले साधारण ज्ञान ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को जीवन-संग्राम में सफल बना सके, उसकी विवेक-बुद्धि को इस तरह जाग्रत कर सके कि जो प्रश्न उसके सामने आवे उसको वह समझ सके और आवश्यकतानुसार निर्णय कर सके; जो अधिक ज्ञान प्राप्त करने की परिभाषा को हमेशा जाग्रत रखे और जिससे प्रत्येक मनुष्य इसका स्थान समाज और देश में ठीक बताये और अपने कर्तव्यों के प्रति निष्ठा जाग्रत करे। इस प्रकार की शिक्षा को उन्होंने जनरल एजुकेशन का नाम दिया है। मैं इसे एक बड़े महत्त्व की सिफारिश मानता हूँ कि इस पर उन्होंने इतना जोर दिया है।

शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत गवेषणा की है और बतलाया है कि मातृभाषा का और राजकीय भाषा का शिक्षाक्रम में क्या स्थान होना चाहिए और उनके अभ्यास के लिए कितना समय और श्रम लगाना चाहिए तथा जहाँ की राजकीय भाषा और मातृभाषा एक ही है, वहाँ के लोगों के लिए संस्कृत अथवा दूसरी प्राचीन भाषा का और भारत की दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में से कम-से-कम एक का ज्ञान किस

तरह और क्यों आवश्यक है। हिन्दी-प्रदेश होने के नाते इस सम्बन्ध में बिहार का विशेष दायित्व है और बिहार की यूनिवर्सिटी को अपना कर्तव्य समझकर इसे पूरा करने में अग्रसर होना चाहिए। मैं मानता हूँ कि जो पन्द्रह वर्ष की अवधि हमारे संविधान में अंगरेजी को राजकीय भाषा रहने के लिए दी गई है वह इसलिए दी गई है कि एक तरफ़ तो हिन्दी इतनी समृद्ध और सुगम हो जाय कि उसमें सब काम आसानी से चलाया जा सके और दूसरे अहिन्दी-भाषी प्रदेशों के लोग हिन्दी का इतना ज्ञान प्राप्त कर लें कि वह हिन्दी-भाषियों के मुकाबले में पीछे न रह जायँ। इन दोनों उद्देश्यों को पूरा करने में हिन्दी-भाषी प्रान्तों की यूनिवर्सिटियाँ बहुत काम कर सकती हैं। हिन्दी की शब्दावली को बढ़ाना, हिन्दी-रचना और व्याकरण की लेखन-शैली की उन्नति करना और हिन्दी-साहित्य में सभी विषयों के उच्चकोटि के ग्रन्थों का निर्माण करना हिन्दी को सार्वदेशिक भाषा बनाने के लिए आवश्यक है। दूसरी ओर अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी के सम्यक् और शीघ्र प्रचार के लिए हिन्दी भाषी लोगों की सहायता और सेवा आवश्यक और अपेक्षित है। इसलिए पटना यूनिवर्सिटी का एक धर्म यह है कि वह इन दोनों प्रकार के कामों को हाथ में ले और तेजी से आगे बढ़े। इसे एक अच्छा सुअवसर भी मिला है। आपके वाइस-चान्सलर इस काम को अच्छी तरह कर सकते हैं। उनमें योग्यता है और उनके सामने अपने पूज्य पिता बाबू रामदीन सिंह और अग्रज बाबू रामरण विजयसिंह का हिन्दी के प्रति प्रेम और सेवा का उदाहरण है जिसके अनुसार चलना एक प्रकार से पैतृक ऋण चुकाने के समान है।

यूनिवर्सिटी कमीशन ने विद्यार्थियों के चरित्र-गठन के सम्बन्ध में भी जो सिफ़ारिश की है वह विचारणीय है। साधारण लोगों के सामने सच्चरित्रता का नमूना पेश करना शिक्षित लोगों का धर्म है। वह मौखिक व्याख्यानों द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। इसके लिए उनको स्वयं सच्चरित्र होना होगा और अपने जीवन द्वारा दूसरों को शिक्षा देनी होगी। हमारी आधुनिक शिक्षा-पद्धति में यह एक बड़ा दोष रहा है कि चरित्र-गठन की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। शायद ऐसा मान लिया गया है कि इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, पर मैं इसे भारी भूल समझता हूँ। यदि एक छोटी-सी पुस्तक में लिखी बातों में परीक्षा देने के लिए लम्बी तैयारी करनी पड़ती है, तो चरित्र जो मनुष्य के रहन-सहन, रंग-ढंग सबको प्रभावित करता रहता है अनायास ही बिना श्रम के ही ठीक ढल जायगा, यह एक दुराशा-मात्र है। इसलिए हमारे सारे कार्यक्रम में कुछ ऐसे क्रियात्मक प्रयोग अथवा उद्योग होने चाहिए जो चरित्र को ठीक ढाँचे पर ढालें या सत्य के प्रति श्रद्धा और सेवा के प्रति प्रेम देखने की शक्ति दें।

हमारी शिक्षा-पद्धति में आजकल परीक्षाओं का बड़ा ऊँचा स्थान और महत्त्व

हैं। इस सम्बन्ध में भी कमीशन ने अपनी सिफारिशों की हैं। मैं इन चन्द बातों की ओर आपका ध्यान इसलिए आकर्षित कर रहा हूँ कि आप इन पर, विशेष करके दूसरी सिफारिशों पर, गम्भीरतापूर्वक विचार करें और अपनी पद्धति में आवश्यक सुधार करें जिससे आज की नयी परिस्थिति में यह सूबा शिक्षा-संस्थाओं से पूरा लाभ उठा सके।

शिक्षा और आत्मविद्या'

आज प्रायः ३६ वर्षों के बाद मुझे इस विशाल भवन में फिर एक बार उपाधि लेने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ है। मैंने एम. एल. की परीक्षा पास करके १९१७ के जनवरी मास में एम. एल. की उपाधि और सोने का पदक पाया था। उसके थोड़े ही दिन पहले मुझे कलकत्ता छोड़कर, जहाँ मैंने १५ साल अध्ययन और कालत में बिताये थे, बिहार जाना पड़ा था। जब मुझे वे बातें याद आती हैं तो हृदय गद्गद् हो जाता है। वे दिन भारतवर्ष के लिए अत्यन्त महत्त्व के दिन थे, क्योंकि उन्हीं दिनों बंग-विच्छेद के बाद एक देशव्यापी आन्दोलन आरम्भ हुआ था। न केवल बंगाल के प्रमुख राजनीतिक नेताओं के साथ ही कलकत्ते के विद्यार्थियों का सम्पर्क हुआ करता था, बल्कि उन दिनों कलकत्ते के देश की राजधानी होने के कारण यहाँ देश और विदेशों से जो बड़े लोग आया करते थे उनसे भी उनका सम्पर्क होता था और यहाँ के वायुमण्डल में नवजीवन, नवअभिलाषाएँ और नवाकांक्षाएँ हिलोरें मारा करती थीं। मैं उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। जब मैं पिछले ५० वर्षों के अपने जीवन पर दृष्टिपात करता हूँ तो ऐसा मालूम पड़ता है कि जो कुछ मैं हुआ हूँ और जो थोड़ी-बहुत सेवा मैं कर सका हूँ उसका बहुत बड़ा श्रेय बंगाल और कलकत्ते को है और उनमें विशेष कर उन सज्जनों को है जिनसे हमारा घनिष्ठ सम्पर्क हुआ और जिन्होंने अपने जीवन से हमारे ऊपर अमिट रूप से प्रभाव डाला। इसलिए मैं इस पदवी को पाकर और भी अधिक गौरव का अनुभव करता हूँ। यहाँ से बिहार वापस जाने के थोड़े ही दिन बाद मैं और सब काम छोड़-छाड़कर राजनीति के प्रवाह में बह गया और तब से आज तक उसमें डूबता, उतराता, तैरता रहा हूँ। मुझे उस जीवन से जो महात्मा गान्धी के सम्पर्क में आने के पूर्व था, हट जाने का कभी अफ़सोस या पश्चात्ताप नहीं हुआ। पर हृदय के किसी कोने में एक अभिलाषा छिपी रह गई थी, क्योंकि उस जीवन से हटते समय उसकी ही पूर्ति की मैं तैयारी कर रहा था। मैंने ऊपर कहा है कि १९१७ के जनवरी मास में मुझे एम. एल. की डिग्री मिली। उसके बाद मैं डी. एल. की डिग्री के लिए तैयारी करने लगा और सोच ही रहा था कि उसके लिए एक निबन्ध लिखूँ कि तभी मैं राजनीति के भँवर में पड़ गया।

कभी-कभी उस अभिलाषा का जाग्रत होना अस्वाभाविक बात नहीं थी। आज वह भी पूरी हो गई और जिसे मैं अपने परिश्रम और अध्यवसाय से प्राप्त करना चाहता था वह आज अनायास ही इस यूनिवर्सिटी की कृपा से, जिसने मुझे पाला-पोसा था, मुझे प्राप्त हो गई। इसके लिए मैं आप सबका हृदय से अनुग्रह मानता हूँ।

इन पिछले ३६ वर्षों में भारतवर्ष में कितना बड़ा और क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है उसे आप सभी जानते हैं। देश, जिसकी स्वाधीनता का स्वप्न केवल स्वप्न-रूप में हम देखा करते थे, आज स्वतन्त्र है और अपने भाग्य को बनाने और बिगाड़ने के पूरे अधिकार और पूरी शक्ति ईश्वर की दया से देशवासियों के हाथों में आ गई है। पर उसके साथ-साथ दुखद घटनाएँ भी घटी हैं जिनके फल और परिणामस्वरूप हम आज भी दुखी और चिन्तित हैं। तो भी संसार के इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण घटना हो गई है कि भारतवर्ष ने महात्मा गान्धी जी के नेतृत्व में और असंख्य नर-नारियों के त्याग से स्वराज्य पा लिया है। आज की प्रचलित शिक्षा-पद्धति से मुझे संतोष नहीं है। मैं अपने असंतोष के कारण कई स्थानों पर कह चुका हूँ। अतः यहाँ उनका दुहराना अनावश्यक है।

इधर प्रायः ४० वर्षों में उस शिक्षा-पद्धति का, जिसका प्रारम्भ अंगरेजी शासन-काल में हुआ था, विस्तार बहुत बढ़ गया है। उसका जितना प्रचार और प्रसार प्रारम्भ से लेकर प्रायः १०० वर्षों में हो सका था उसका दुगुना प्रसार पिछले ४० वर्षों के अन्दर हो गया है जो नीचे लिखे आँकड़ों से स्पष्ट हो जायगा—

संस्था	१९११-१२		१९४८-४९		१९५१-५२
	संस्थाओं की संख्या	विद्यार्थियों की संख्या	संस्थाओं की संख्या	विद्यार्थियों की संख्या	
यूनिवर्सिटी और कालेज	१८६	३१९७४	५३७	२१४६७७ (२३०५८ महिलार्य)	सफल परीक्षा- थियों की संख्या ६३४९५
प्राइमरी स्कूल ...	१२३५७८	४९८८१४२	१५४९१२	१२९९४६२१	
सेकेण्डरी स्कूल ...	६३१०	९२४३७०	१४३४२	२९४९६८९	
ज्ञातिपक और अन्य विद्यालय	६१९८		१४५६८		
सरकार से स्वीकृत न किये हुए शिक्षालय	३९८९३		८५९५		

१९११-१२ में यूनिवर्सिटियों और कालेजों की संख्या समस्त भारत में, जिसमें आजकल के पाकिस्तान सम्मिलित क्षेत्र और बर्मा भी सम्मिलित थे, १८६ थी और १९४८-४९ में बर्मा और पाकिस्तान को छोड़कर भी यह संख्या भारत में ५३७ थी। इसी तरह प्राइमरी स्कूलों की संख्या १९११-१२ में १,२३,५७८ थी और १९४८-४९ में १,५४,९१२ थी। सेकेण्डरी स्कूलों की संख्या सन् १९११-१२ में ६,३७० थी और १९४८-४९ में १४,३४२ थी। शिल्पिक और दूसरे प्रकार के विद्यालय १९११-१२ में ६,१९८ थे और १९४८-४९ में १४,५६८; स्वीकृत न किये हुए शिक्षालयों की संख्या १९११-१२ में ३६,८९३ थी और १९४८-४९ में ८,५९५। इसी तरह विद्यार्थियों की संख्या भी १९११-१२ में इन्टरमीजियेट, बी. ए. और बी. एस-सी. कक्षाओं में ३१,९७४ थी और १९४८-४९ में इन कक्षाओं तथा एम. ए., एम. एस-सी. और रिसर्च कक्षाओं को सम्मिलित करके २,१४,६७७ जिनमें २३,०५८ महिलायें थीं। १९५१-५२ में भारत की २८ यूनिवर्सिटियों से बी. ए., बी. एस-सी., एम. ए., एम. एस-सी. और अन्य डिग्रियों की परीक्षाओं में कुल मिलाकर ६३,४९५ परीक्षार्थी सफल होकर निकले।

आप देख सकते हैं कि आज स्कूलों, कालेजों और यूनिवर्सिटियों में शिक्षा पाये हुए युवकों और युवतियों की संख्या कितनी बढ़ गई है और प्रति वर्ष वह कितनी बढ़ती जा रही है। यह एक संतोष का विषय है, पर साथ ही यह चिन्ता का कारण भी है। यदि हमारी शिक्षा का ढंग ऐसा होता कि जो उस ढंग पर शिक्षा पाते वह कुछ विषयों के ज्ञान के साथ-साथ चरित्र में भी उन्नत होते और ऐसी योग्यता से भी सम्पन्न होते कि अपने हाथों और पैरों पर तथा अपनी देह और मस्तिष्क पर भरोसा करके जीवन-निर्वाह का साधन भी प्राप्त कर लेते तो उससे बढ़कर देश और समाज के लिए दूसरी कोई अच्छी बात नहीं होती। पर यह खेद का विषय है और उस पद्धति में मौलिक त्रुटि का परिचायक है कि शिक्षित वर्ग के अधिकांश लोग केवल दफ्तरों में काम करने की थोड़ी-बहुत योग्यता ही प्राप्त करते हैं और वह भी ऊँची कोटि की योग्यता नहीं। अधिकांश में लोग उसके योग्य भी नहीं निकलते और दूसरे किसी स्वावलम्बी जीवन के योग्य तो होते ही नहीं। इसलिए उस विस्तार और प्रसार का एक फल यह देखने में आ रहा है कि दिन-प्रति-दिन ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती ही जा रही है, जो छोटी-मोटी दफ्तरों की नौकरियों की खोज में रहते हैं और उनको नौकरियाँ नहीं मिलतीं। जो काम उनके अनपढ़ पिता-पितामह कर सकते थे और करके अपना निर्वाह करते थे उस काम के भी वह अयोग्य हो जाते हैं। इस तरह से यह एक विचारणीय प्रश्न हो गया है कि इस प्रकार के स्कूलों, कालेजों और यूनिवर्सिटियों की वृद्धि कहाँ तक देश के लिए लाभदायक है। जब तक इस पद्धति में मौलिक परिवर्तन नहीं किया

जायगा, ये संस्थाएँ केवल ऐसे लोगों की संख्या बढ़ाने में ही सफल रहेंगी जो वास्तव में अयोग्य होंगे और उसके साथ ही अपने जीवन, समाज और सरकार से असंतुष्ट भी रहेंगे ।

इस शिक्षा-पद्धति द्वारा कुछ विषयों का या कम-से-कम एक विषय का भी अच्छा और काम-काजी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो जाता तो हमको कुछ संतोष होता, पर इधर चारों ओर से यह आवाज सुनने में आ रही है और वह ऐसे लोगों की आवाज है जो इस विषय को जानते हैं या इसके सम्बन्ध में कुछ कहने का अधिकार रखते हैं कि पहले जो शिक्षा और ज्ञान का स्तर था वह बहुत गिर गया है और नीचे उतरता जा रहा है । यदि सच पूछा जाय तो यह एक प्रकार से स्वाभाविक भी था । इतनी तेजी के साथ और इतने विस्तार में शिक्षा-संस्थाएँ फैल रही हैं कि यह आशा करना असम्भव है कि उनमें गहराई भी उतनी ही होगी । इसलिए यद्यपि शिक्षा पर खर्च बहुत बढ़ गया है और शिक्षा के साधन भी जैसे पुस्तकालय, प्रयोगशाला, यन्त्र आदि काफ़ी बढ़ गये हैं तो भी जिस मात्रा में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ी है उस मात्रा में उनकी वृद्धि नहीं हो पाई है । योग्य अनुभवी शिक्षक मिलना कभी भी आसान नहीं है और जब बहुत बड़ी संख्या में उनकी मांग होती है तो स्वाभाविक है कि स्तर कुछ कम हो जाता है । इसलिए जहाँ हम शिक्षा का विस्तार चाहते हैं, हम उसकी गहराई भी चाहते हैं । हो सकता है कि यह स्थिति तात्कालिक हो और थोड़े दिनों में सुधर जाय । किन्तु मेरा अपना विचार है कि जब तक शिक्षा के विषय और शिक्षाक्रम में मौलिक परिवर्तन नहीं किया जायगा और उसका दृष्टिकोण ही न बदल दिया जायगा तब तक वह गहराई और कार्य-कुशलता उसमें नहीं आ सकती जो हमें चाहिए । उसका एक विशेष कारण यह है कि चाहे कोई भी काम हो उसका कुछ भी सम्बन्ध यूनिवर्सिटी की उपाधि के साथ अथवा वहाँ दी जाने वाली शिक्षा के साथ न हो तो भी उम्मीदवार से यह आशा रखी जाती है कि वह किसी-न-किसी यूनिवर्सिटी की डिग्री प्राप्त किये हुए होगा और जहाँ किसी चीज़ के ज्ञान से अधिक उस विषय में कार्य-कुशलता आवश्यक है वहाँ भी डिग्रियों की खोज होती रहती है । जब तक अभ्यास, व्यावहारिकता और क्रियात्मक अनुभव को यथोचित स्थान नहीं मिलेगा तब तक यह त्रुटि दूर नहीं हो सकती । आज हजारों की संख्या में जो युवक-युवतियाँ स्कूलों, कालेजों और यूनिवर्सिटियों को दौड़ी जाती हैं उसका कारण यही है कि उनकी समझ में किसी रोज़गार के लिए, किसी प्रकार की जीवन-वृत्ति प्राप्त करने के लिए, उन संस्थाओं को छोड़कर और कोई दूसरा रास्ता नहीं है और इसलिए जो संस्थाएँ उच्च प्रकार की शिक्षा और मौलिक चिन्ता के केन्द्र होनी चाहिए वे भी छोटी-सादा नौकरियों के लिए कारखाने बन जाती हैं । मैं चाहता हूँ कि हमारे शिक्षाशास्त्री

शिक्षा की उन्नति के सम्बन्ध में और गहराई से विचार करें और जो परिवर्तन आवश्यक जान पड़े, उसे शिक्षाक्रम में दाखिल करें ।

आज के शिक्षाक्रम में चरित्र-गठन का कोई स्थान नहीं है और न उसको कोई महत्त्व दिया जाता है । हमारी संस्कृति में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध बहुत ही सुन्दर और मीठा हुआ करता था । इसका कारण यही था कि दोनों का एक दूसरे पर विश्वास हुआ करता था । गुरु शिष्य को पुत्रवत् मानते थे और उस पर स्नेह रखते थे । शिष्य गुरु को पिता-तुल्य पूज्य और विश्वसनीय समझता था । गुरु का शिष्य के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा करता था और गुरु-शिष्य के बीच केवल व्यापारिक सम्बन्ध, जिसमें पैसे के बदले कुछ पुस्तकें पढ़ा देने मात्र का एक सम्पर्क होता है, न रहकर आध्यात्मिक सम्बन्ध हो जाता था जो बहुत घनिष्ठ हुए बिना नहीं रह सकता था । आज आये दिन समाचारपत्रों में पढ़ने को मिलता है कि कहीं विद्यार्थियों ने शिक्षकों के विरुद्ध हड़ताल कर दी तो कहीं शिक्षकों में ही दलबन्धियाँ हो गईं और विद्यार्थी भी कुछ एक दल में और कुछ दूसरे दल में शरीक हो गये और एक या दूसरे का समर्थन करने लगे । हाल में एक भयंकर दुर्घटना भी सुनने में आई है कि शिक्षक के परीक्षा-सम्बन्धी कड़ाई करने से असन्तुष्ट होकर कुछ विद्यार्थियों ने शिक्षक के प्राण ही ले लिये । यदि दूसरे किसी ने भी उनकी बुराई की या उनके किसी बुरे काम का विरोध किया तो उसके साथ भी वे लड़ने-झगड़ने से बाज नहीं आते । अगर कोई एक विद्यार्थी ऐसी कोई बात करे तो वह समझ में आ सकती है । पर जब किसी स्कूल या कालेज के विद्यार्थी एक गोल बनाकर ऐसे काम में लगते हैं तो यह चिन्ता का विषय हो जाता है । जहाँ तक मैं देख और समझ सकता हूँ इसका मौलिक कारण चरित्र-गठन पर ध्यान न देना और छात्रगण पर शिक्षकवर्ग के नैतिक प्रभाव का न होना ही है । मेरा यह कथन किसी प्रदेश-विशेष के लिए नहीं है । साधारणतया यह समस्या सारे देश में वर्तमान है ।

यद्यपि हमारे शिक्षालयों में विद्यार्थियों के चरित्र-गठन पर ध्यान नहीं दिया जाता था तो भी एक दूसरी शक्ति और संस्था थी जो इस त्रुटि को कुछ हद तक दूर करती थी । हमारा कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन कुछ ऐसा था कि उसका असर बचपन से ही हम पर पड़ता था । घर-घर में धार्मिक कृत्य किसी-न-किसी रूप में बराबर हुआ करते थे और रामायण और महाभारत की कथा होती थी । कथा, पुराण, प्रवचन, कुछ-न-कुछ दूर के गाँवों में भी सुनने को मिला करते थे और जो त्यौहार और धार्मिक उत्सव होते थे वे भी किसी-न-किसी रूप में देखने को मिला करते थे । आज कौटुम्बिक जीवन वर्तमान परिस्थिति के कारण विभ्रंशित होता जाता है और बहुत अंश में हो भी चुका है । सामाजिक रोकथाम जो हमें बुराइयों से बचाया करती थी

भी अब ढीली पड़ गई है। इस तरह के उत्सव और मेले जो मनबहुलाव के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी हुआ करते थे आजकल के लोगों के मनोनुकूल नहीं होते हैं और टूटते जा रहे हैं। इसलिए उनका जो प्रभाव बच्चों और सयानों पर पड़ा करता था वह प्रतिदिन कम होता जा रहा है। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे समय में जब मनुष्य के जीवन पर ज्यादा संस्कार पड़ता है तो विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं में पड़कर आज के युवक और युवतियाँ बिना पतवार की नाव की तरह टकराते हुए धाराओं के शिकार बन जाते हैं। यदि नैतिक जीवन पर शिक्षा आधृत न हो तो महा विपत्ति से राष्ट्र को न बचाया जा सकेगा। इसलिए समस्त शिक्षा-व्यवस्था का जड़ से नया संस्कार करना आवश्यक है। केवल शिक्षकों और जातीय नेताओं के भाषणों से अच्छे युवक और युवती तैयार नहीं हो सकेंगे। उनका अपना चरित्र और व्यवहार हर तरह से ऐसा होना चाहिए कि उनके काम और कथन में कोई अन्तर न हो। देश का सुन्दर भविष्य तभी बनेगा जब यह आदर्श सामने रहेगा।

आज पश्चिमीय विचारों का जितना प्रभाव पड़ रहा है उतना शायद कभी भी इस देश पर नहीं पड़ा। इसका एक कारण यह है कि आज दुनिया वैज्ञानिक प्रगति के कारण बहुत सिकुड़ती जा रही है। यातायात के इतने द्रुतिमान साधन आज मनुष्य के हाथ में आ गये हैं कि दुनिया के किसी भी भूभाग में अगर कोई घटना होती है तो उसकी सूचना घटना घटते ही हर स्थान पर पहुँच जाती है। कहीं-कहीं तो पहले प्रबन्ध रहने से अथवा साथ-साथ घटना-क्रम के वर्णन किये जाने से घटना होते समय ही उसे दूरस्थ देशों से भी आवामी देख और सुन सकते हैं। अपने पलंग पर सोये-सोये अमेरिका में होते हुए भाषण और गानों को हम सुन सकते हैं। आस्ट्रेलिया में होते हुए क्रिकेट-मैच का आँखों-देखा वर्णन हम सुनते जाते हैं। यदि इतना ही रहता तो भी किसी तरह से इतनी बुराई नहीं होती। हम दूरस्थ देश के चोरों और डाकुओं की क्रिया भी देखते हैं और यह स्वाभाविक ही है कि इस प्रकार उनकी नकल करने का सुयोग हमें मिलता है। आज अन्यान्य देशों के रस्म-रिवाज, रहन-सहन, वेशभूषा को बिना वहाँ गये ही हम केवल पुस्तकों में पढ़कर ही नहीं अपितु चलते-फिरते और बोलते चित्रों द्वारा देख सकते हैं। इन सबका असर हमारे युवक-युवतियों और अवज्ञ लोगों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। संसार की दूसरी सबसे बड़ी समस्या विज्ञान के कारण ही उपस्थित हो रही है। आज नैसर्गिक शक्तियों पर मनुष्य ने बहुत हद तक आधिपत्य प्राप्त कर लिया है और अपनी शक्ति इतनी बढ़ाती है कि आज से ५० वर्ष पूर्व तक उनका अनुमान और स्वप्न भी नहीं किया गया होगा। भाप, बिजली, आग और अणुशक्ति ने मनुष्य के हाथ में ऐसे साधन दे दिये हैं कि एक ओर तो यदि वह चाहे तो इस दुनिया को यहाँ के सभी रहने वालों के लिए स्वर्ग बना दे और दूसरी ओर इसे श्मशान

बना दे । इन्हीं शक्तियों पर आधिपत्य पाकर आज सारी दुनिया में इस बात की होड़ चल रही है कि इनका सबसे अधिक घातक उपयोग कैसे किया जा सकता है और कौन कर सकता है । इन वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप मनुष्य को अपने जीवन के लिए शारीरिक श्रम से बचने के बहुत से साधन और उपाय भी मिल गये हैं और बहुत प्रकार के रोगों से बचने के लिए जो असाध्य माने जाते थे उनका उपचार और श्रौषधियाँ भी हाथों में आ गई हैं और आती जा रही हैं । आसाइश, आराम और विलास की सामग्री, चाहे वह जरूरी हो अथवा गैर-जरूरी, तैयार करने की सहज रीति जानी जा चुकी है । जिस काम को मनुष्य बहुत ही परिश्रम से कर पाता था उसे आज वह बैठे हुए आराम से करा सकता है और बहुतेरी कष्टसाध्य क्रियाओं को किये बिना ही आज उनसे जो लाभ पहुँच सकता है उसे हम पा सकते हैं । आज मानव-समाज के पास अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए और सभी शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए साधन मौजूद हैं और किसी को उन आवश्यक वस्तुओं के लिए किसी के साथ लड़ने-भगड़ने की जरूरत नहीं है । उनका इतना प्रचुर उत्पादन होता है और उनका उत्पादन और विभाजन इतना बढ़ाया जा सकता है कि यदि हम यह सीख लें कि मानव-मात्र एक कुटुम्ब अथवा परिवार के लोग हैं और जैसे हमारे देश में किसी परिवार अथवा कुटुम्ब के लोग अपनी सब चीजों को बिना किसी अन्य सोच-विचार के आपस में बाँटकर सुखी रह सकते हैं उसी तरह सारा मानव-समाज सुखी रह सकता है तो किसी चीज की कमी महसूस नहीं होगी । तो भी आज उसकी सारी शक्ति आपस में फँसे हुए भगड़ों को बढ़ाने में या सुलभाने में नहीं लग रही है । विज्ञान मनुष्य के लिए देवी वरदान न बनकर आसुरी अभिशाप बन रहा है । श्रेष्ठतम विद्वानों और वैज्ञानिकों की मानसिक शक्ति और तपस्या भीषण-से-भीषण घातक शस्त्रों और यन्त्रों के आविष्कार में लग रही है और कोई भी आज चैन की नींद से नहीं सो सकता है । मनुष्य ने दैविक शक्ति तो पा ली है पर उसका सबके उपकार और कल्याण के लिए उपयोग करना नहीं सीखा है । हमारा दिमाग और मस्तिष्क आसमान पर चढ़ गया है पर हृदय छोटा और संकुचित रह गया है । मैं मानता हूँ कि मानव-शरीर को पोषक रक्त पहुँचाने की शक्ति हृदय में है मस्तिष्क में नहीं और मस्तिष्क भी अपने भरण-पोषण के लिए हृदय पर ही निर्भर रहता है । उस हृदय की उपेक्षा करके केवल मस्तिष्क द्वारा हम न तो अपने को और न दूसरों को सुखी कर सकते हैं । उसको कैसे बलवान् और महान् बनाया जाय, यही प्रश्न आज मानव-जाति के सामने है । हम मस्तिष्क की उन्नति की निन्दा नहीं करते और न उसका अवरोध करना चाहते हैं । विज्ञान को अबाध रीति से अपना काम करना चाहिए और उसे यह करने देना ही श्रेयस्कर है पर उसके साथ कुछ और भी चाहिए, जो हृदय को बल पहुँचा सके ।

हमारे उपनिषदों में इन विषयों पर गहराई से केवल विचार-विमर्श ही नहीं किया गया है बल्कि इनका अनुभव और साक्षात् भी किया गया है। कहीं-कहीं तो उनकी भाषा आज हम ठीक समझ भी नहीं सकते, क्योंकि हम केवल बुद्धि द्वारा ही उनको समझने का प्रयत्न करते हैं और जो अनुभव-सिद्ध स्पष्ट बात है उसे हम अपनी बुद्धि की चारदीवारी के अन्दर उसके दरवाजे छोटे होने के कारण लाने में असमर्थ होकर उनकी सत्यता और प्रामाणिकता पर ही संदेह करने लगते हैं। मानव-समाज आज अविद्या को पार करके घोर अंधकार के बाहर चले जाने के प्रयत्न में तो बहुत कुछ सफल हुआ है, पर विद्या में रमे रहने अथवा रत रहने के कारण वह उससे भी घोर अंधकार में चला गया है। आत्मतत्त्व अथवा आत्मविद्या को जो अविद्या और विद्या दोनों से भिन्न है प्राप्त करने का मानव-समाज आज प्रयत्न नहीं कर रहा है। उसके प्राप्त होते ही हृदय शुद्ध हो जायगा और मनुष्य मनुष्य से वैमनस्य न रखकर ऐक्य का अनुभव करने लगेगा। मनुष्य के साथ ही क्यों, वह दृष्टि में आने वाली सभी वस्तुओं के साथ आत्मत्व प्राप्त कर लेगा और सारे भगड़े समाप्त हो जायेंगे। तात्विक दृष्टि से यह केवल संभव ही नहीं है, अपितु हमारा अनिवार्य कर्तव्य भी है। यही भारत की अमर वाणी है और हमें विश्वास है कि एक दिन यह भारत में फैल जायगी। हमारे समाज और मानवमात्र की कमजोरी हमें इस दुर्गम पथ पर चलने नहीं देती और हम इधर-उधर भटकते फिरते हैं। हमें समझ लेना चाहिए कि जब तक इस आत्मतत्त्व का ओर दृष्टि नहीं जायगी और इसकी प्राप्ति के लिए हम प्रयत्नशील नहीं होंगे तब तक समाज का विशृंखलता और दुनिया की फँली हुई अराजकता दूर नहीं की जा सकेगी। इस देश में हम सुनते हैं, कि जनसाधारण और शिक्षित लोगों का चरित्र आज जितना उन्नत और उदात्त होना चाहिए उतना नहीं है। इसका कारण परा-विद्या के प्रति हमारी उपेक्षा और तद्व्यतिरिक्त शिक्षा-संस्थाओं में उसमें शिक्षा और अभ्यास के साधनों का अभाव है। मैं इसीलिए चाहता हूँ कि हमारे विश्वविद्यालय इस अभाव को दूर करें, क्योंकि इसकी आवश्यकता केवल भारत के लिए ही नहीं, सारे संसार के लिए है। इसी का नाम महात्मा गान्धी ने सत्य और अहिंसा दिया है। इसकी ज़रूरत सभी समझ रहे हैं पर इसका ह्रास भी सभी चुपचाप बैठे देख रहे हैं। जब तक हम अपने छात्रों के चरित्र-गठन पर उतना ध्यान नहीं देंगे जितना उनके बुद्धि-विकास पर आज हम दे रहे हैं, तब तक वह अविद्या से कुछ हद तक निकलकर और विद्या पाकर भी घोरतम अंधकार में पड़ते जायेंगे। भारत की संसार को सबसे बड़ी देन यही आत्म-विद्या हो सकती है और उसे भारत तभी दे सकता है जब वह उसे स्वयं प्राप्त कर लेगा।

यह यूनिवर्सिटी आधुनिक भारत की यूनिवर्सिटियों में सबसे प्राचीन है।

इसका कार्य-क्षेत्र भी बहुत फैला हुआ था और यद्यपि आज कई नयी यूनिवर्सिटियों की स्थापना से वह क्षेत्र बहुत कम हो गया है तो भी मैं समझता हूँ कि भारतवर्ष भर में जितने ग्रेजुएट (स्नातक) इस यूनिवर्सिटी से शिक्षा प्राप्त करके निकले होंगे उतने शायद और किसी भी दूसरी यूनिवर्सिटी से नहीं। इसने यथेष्ट ख्याति भी देश और विदेशों में प्राप्त की है, देश के सभी प्रकार के प्रगतिशील कामों में बड़ा भाग लिया है और आज भी इस यूनिवर्सिटी का स्थान बहुत ही ऊँचा और सम्मानित है। बंगाल भारत के अन्दर साधना का एक अपूर्व क्षेत्र है। नूतन भारत की जाग्रति में और उसके पुनर्जीवन में बंगाल का बड़ा अंशदान है। इसलिए मैंने आज शिक्षा सम्बन्धी कुछ मौलिक प्रश्नों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करने की धृष्टता की है। इधर शिक्षा का प्रचार और प्रसार बहुत हा तेजी से बढ़ता जा रहा है, पर जो पद्धति आज आ रही है उसमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है। सलिए यह विचारणीय है कि जब इस प्रसार से असंतुष्ट लोगों की बहुसंख्यक श्रेणी तैयार की जा रही है और जीवन के प्रश्न हल करने का कोई रास्ता इस शिक्षा द्वारा हमको नहीं मिल रहा है तो यह प्रसार कहाँ तक वांछनीय है? विशेष करके जब हम यह देखते हैं कि इस प्रसार का एक फल यह हुआ है कि ज्ञान की गहराई में भी न्यूनता आती जा रही है और जातीय चरित्र-गठन में कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सारी पद्धति पर मौलिक रीति से विचार किया जाय। यह केवल बंगाल का ही प्रश्न नहीं है, भारत भर का प्रश्न है। इसका हल करने के लिए मैं सबको आह्वान करता हूँ।

द्वितीय खण्ड

प्राचीन शिक्षा-पद्धति

१

राष्ट्रीय शिक्षा

२

नारी-शिक्षा का आदर्श

३

शिक्षिता नारी का दायित्व

४

गुरुकुल और राष्ट्रीय शिक्षा

राष्ट्रीय शिक्षा'

मनुष्य के लिए सबसे कठिन और दुखदायी गुलामी उसके मस्तिष्क और विचारों की गुलामी है। संसार का इतिहास बताता है कि जब एक जाति ने किसी दूसरी जाति पर आक्रमण द्वारा अथवा किसी अन्य प्रकार से अधिकार किया तो उस अधिकार को स्थायी और सत्ता को क्रायम रखने के लिए विजेता जाति ने विजित जाति के मनुष्यों के रहन-सहन, धर्म और साहित्य को अपने-सा बना लेने की कोशिश की है, और जहाँ तक वह इस प्रयत्न में सफलता पा सकी है वहाँ तक उसका राज्य और शासन स्थायी हुआ है। जब से विजित जाति को अपने देश, जाति, धर्म, भाषा, भाव, रहन-सहन, साहित्य इत्यादि का ज्ञान हुआ है, तब से उसे पराधीनता की जंजीरों में जकड़कर बन्द रखना कठिन हो गया है। इसी सर्वव्यापी ऐतिहासिक नियम का एक प्रमाण भारतवर्ष में अंगरेजी शासन की शिक्षा-नीति से भी मिलता है। पाठक जानते हैं कि प्रायः आज से १०० वर्ष पहले जब अंगरेजी राज्य की नींव भारतवर्ष में उतनी दृढ़ नहीं थी तब इस बात की बहस अंगरेजी शासकों में हुई थी कि भारतवर्ष में अंगरेजी द्वारा अंगरेजी भाव और अंगरेजी सभ्यता का प्रचार किया जाय अथवा भारतवर्ष की विद्या और भाषा की उन्नति का प्रबन्ध शिक्षा-विभाग द्वारा किया जाय। बहुत वाद-विवाद के उपरान्त अंगरेजी की जीत हुई। अंगरेजी शिक्षा की नींव इसी प्रकार पड़ी। इसका फल यह हुआ कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, अंगरेजी भाव और भाषा का प्रचार भारतवर्ष में बढ़ता गया और जो लोग पहले संस्कृत तथा अरबी-फ़ारसी द्वारा ही सब काम चलाते थे, वे अंगरेजी पढ़कर एक प्रकार के नशे में आ गये। सभी देशी चीजें उन्हें तुच्छ और छोटी दीखने लगीं और पश्चिम की तुच्छाति-तुच्छ वस्तु भी उन्हें बहुत ही उच्च और पवित्र जँचने लगी। पर इस बात का श्रेय अंगरेजों को अवश्य है कि उन्होंने संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों को स्वयं पढ़ना आरम्भ किया और बहुतेरों का तो इसी प्रकार उद्धार किया। यदि वह ऐसा न करते तो वह लुप्त हो गये होते। जब उन्होंने भारतीय सभ्यता के महत्त्व को देखा और उसकी प्रशंसा अपने ग्रन्थों में करनी आरम्भ की तो हिन्दुस्तानियों की आँखें फिर खुलने लगीं कि शायद उनमें भी कुछ जानने योग्य बातें हैं।

अंगरेजी शिक्षा द्वारा ही सरकारी तथा अन्य नौकरियाँ मिल सकती हैं। राज-भाषा होने के कारण अंगरेजी को बड़ी सुविधा है और अंगरेजी साम्राज्य के संसारव्यापी होने के कारण उसकी भाषा भी सर्वव्यापी हो रही है। ऐसी ही अवस्था में कुछ विचारशील तथा देश-हितैषी सज्जनों का यह विचार हुआ कि यदि हम भारतवर्ष को राजनीतिक बन्धनों से छुड़ाना चाहते हैं, तो उसके लिए यह भी परम आवश्यक है कि उसके मस्तिष्क को पराधीनता के बन्धन से मुक्त किया जाय। राष्ट्रीय शिक्षा के प्रयत्न इसी नवजाग्रत भाव के चिह्न और प्रमाण हैं। इसका उद्देश्य है भारतवासियों को अपने देश और जाति का गौरव बताना और उन्हें उस गौरव का योग्य अधिकारी अथवा उत्तराधिकारी बनाना।

राष्ट्रीय शिक्षा के कई रूप हैं। यह समझना भूल है कि असहयोग आन्दोलन के बाद से ही राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार हुआ है। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल स्थापित करके राष्ट्रीय शिक्षा की नींव डाली थी। वह संस्था इसलिए स्थापित की गई थी कि भारतवर्ष उन पुराने दृश्यों को जिन्हें आज से १,००० वर्ष से अधिक पूर्व के हिन्दू अपनी आँखों के चारों ओर देखा करते थे फिर देखें। जहाँ तक मैं समझता हूँ उसका उद्देश्य प्राचीन रीति से ब्रह्मचर्याश्रम का पालन कराकर हमारे बच्चों को तेजस्वी, बुद्धिमान्, चरित्रशील और विद्वान् बनाना था। उसमें कदाचित् राजनीतिक भाव न हों, पर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि उस गुरुकुल में शिक्षण-विधि से बच्चे सरकारी शिक्षा से बचे रहते हैं और इसका प्रभाव उनके दिल और दिमाग पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार सनातनधर्मियों के ब्रह्मचर्याश्रम भी इसी उद्देश्य से खोले गये थे। सारांश यह है कि प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से उनके धर्म पर आघात पहुँच रहा है तो उन्होंने उसे सुरक्षित और संरक्षित रखने के विचार से अपनी रीति की शिक्षा देने का विचार किया है।

जब बंगाल-विच्छेद के कारण एक अद्भुत जाग्रति हो गई और वहाँ के निवासियों को इस बात की प्रतीति हो गई कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए मानसिक स्वतन्त्रता आवश्यक है तो उन्होंने यह भी निश्चय किया कि मानसिक स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय शिक्षा अत्यावश्यक है। इसलिए वहाँ पर राष्ट्रीय शिक्षा की नींव पड़ी। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट भी इस विषय में बहुत दिनों से विचार कर रही हैं और कितने ही ऐसे विद्यालय खोल रही हैं जिनमें राष्ट्रीय नीति से शिक्षा दी जाती है। असहयोग आन्दोलन के पहले जितने प्रयत्न हुए सभी कुछ-न-कुछ सफलता प्राप्त करते गये। बंगीय शिक्षा प्रयत्न का जन्म राजनीतिक आन्दोलन के कारण ही हुआ था, पर उसमें सभी विचारों के सज्जन, जो चाहे सरकारी विद्यालयों से सम्बन्ध रखते थे या नहीं, सम्मिलित थे। स्वर्गवासी सर गुरुदास बनर्जी, सर रास बिहारी घोष और सर तारक-

नाथ पालित उसके मुख्य सदस्य-अधिष्ठाताओं में से थे। उनके साथ-साथ श्री अरविन्द घोष महाशय जी उस कार्य को अपना ही समझते थे। इसी प्रकार श्रीमती बेसेन्ट के विद्यालयों में भी सरकारी और गैर-सरकारी सभी लोगों की पूरी सहानुभूति और सहायता थी।

जब से असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ तब से राष्ट्रीय शिक्षा को एक नया जीवन मिल गया। असहयोग ने हमारे दृष्टिकोण को ही बदल दिया। इस आन्दोलन का रूप ध्वंसकारी है और विधायक ध्वंसकारी रूप में यह सरकारी स्कूलों को खाली कराकर उनका नाश करना चाहता है, पर अपने विधायक रूप में यह हमारे नवयुवकों के हृदय में देशप्रेम तथा त्याग की ज्वाला प्रज्वलित करना चाहता है। आरम्भ में इसका ध्वंसकारी रूप अधिक देखने में आता था। आज यह अपने सच्चे स्वरूप को दिखलाने की चेष्टा कर रहा है। जब इस भाव और आदर्श से भरे हुए विद्यार्थी तैयार होकर देश-सेवा का व्रत धारण करके निकलेंगे और अपने जीवन और त्याग से अनुकरणीय काम करने लगेंगे तो देश की हालत बहुत-कुछ बदल जायगी।

आश्चर्य की बात है कि इस वर्ष महाविद्यालय में छात्रों की संख्या बढ़ती ही जा रही है और गत वर्ष समस्त विद्यालयों में जितने छात्र थे, इस वर्ष एक ही वर्ग में उतने हैं। ऐसा विश्वास होता है कि राष्ट्रीय शिक्षा के महत्त्व और विलक्षणता को जानकर, और यह समझकर कि इस शिक्षा का फल नौकरी नहीं है, जो छात्र आ रहे हैं वह किसी उच्च आदर्श को लेकर ही आसरे हो रहे हैं। यह हमारे प्रान्त के लिए सौभाग्य और गौरव की बात है। राजनीतिक विचारों में विभिन्नता हो सकती है और है भी। पर सच्चे त्याग पर सभी मुग्ध हो जाते हैं और नरम दल हो अथवा गरम दल हो, स्वराज्यवादी हो अथवा कोई अपरिवर्तनवादी हो, सभी चाहते हैं कि देश में ऐसे सच्चे सेवक तैयार हों जो देश-सेवा के व्रती होकर त्याग को ही अपने जीवन का उद्देश्य समझते रहें। इन राष्ट्रीय विद्यालयों और इस राष्ट्रीय शिक्षा का मुख्य आदर्श यही है।

राष्ट्रीय शिक्षा में पठन-पाठन की रीति और है तथा शैली भी निराली है। छात्र और बहुतेरे शिक्षक एक साथ रहते हैं और एक दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होते हैं। शिक्षकों का सहवास-जनित प्रभाव छात्रों के हृदय पर पड़ता है और शिक्षक भी ऐसे ही हैं जिन्होंने विद्योपाजन के साथ-साथ देश-सेवा और उसके लिए त्याग का व्रत लिया है। हमारी नीति है कि हम अपने बच्चों को भारतीय रखें, न कि उन्हें विदेशी बना दें। इसलिए हमारी उच्चकोटि की शिक्षा भी मातृभाषा द्वारा ही दी जाती है। जब मैं पटना यूनिवर्सिटी की सिनेट का सदस्य था और हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया था, तो मि० फाकेस ने मुझ से पूछा था

कि यदि आपको अधिकार दे दिया जाय, तो क्या आप इस प्रस्ताव को कार्य में परिणत कर सकते हैं। मैंने उत्तर दिया था कि मेरे दिल में कुछ भी शक नहीं है, मैं कल ही उसके अनुसार काम करने लगूंगा। यह प्रस्ताव आज से चार साल पहले स्वीकृत हुआ था और फिर सुना है कि वह इस कारण से हटा दिया गया है कि वह व्यावहारिक रूप से काम में नहीं लाया जा सकता है। राष्ट्रीय विद्यालय इसी दलील का मुंहतोड़ उत्तर देने के लिए चेष्टा कर रहा है। वह प्रस्ताव केवल मेट्रिक्युलेशन के लिए ही हिन्दी को माध्यम बनाना चाहता है। महाविद्यालय में उच्च शिक्षा भी हिन्दी द्वारा ही दी जा रही है। हम समझते हैं कि केवल माध्यम बदल देने से ही जितना समय विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा प्राप्त करने में लगता है, वह बहुत घटाया जा सकता है। अभी पुस्तकों की भी कमी है, शिक्षक भी पूरे उपयुक्त नहीं मिलते, पर इन अड़चनों के रहते हुए भी हम आशा करते हैं कि कुछ दिनों में ही इसका सन्तोषजनक फल देखने में आयेगा।

दूसरी बात यह है कि हम प्रत्येक विद्यार्थी को पुस्तक के ज्ञान के अतिरिक्त कुछ कारबारी शिल्प भी सिखलाने की चेष्टा करते हैं। यद्यपि शिल्प-विभाग का द्रव्याभाव के कारण अभी तक उतना सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं है जितना होना चाहिए, तथापि हमारे छात्र कुछ-न-कुछ ऐसी विद्या भी सीखते हैं जिससे वह अपने जीवन का निर्वाह कर सकेंगे और उन्हें दूसरों की नौकरी का मुंह न देखना पड़ेगा।

नारी-शिक्षा का आदर्श^१

इस महाविद्यालय का इस प्रान्त में अपना एक विशेष महत्त्व है और इसका इतिहास नारी-जाग्रति तथा उन्नति का इतिहास है। इसकी स्थापना उच्च आदर्शों को लेकर एवं नारी-जाग्रति तथा राष्ट्रीय उन्नति की पुनीत भावनाओं से प्रेरित होकर आज से बहुत साल पहले एक सच्चे समाज-सुधारक के द्वारा की गई थी जिनके विल में मुख्यतः नारी-जाति के प्रति विशेष गौरव और महान् आदर था। आप सबको मालूम ही होगा कि हमारे देश में दो प्रकार की शिक्षा-संस्थाएँ विद्यमान हैं—एक तो वह जो अंगरेजी शासकों के द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित की गई थीं और दूसरी वह जो स्वतन्त्र रूप से राष्ट्रप्रेमियों के द्वारा राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत होकर अपने देश की संस्कृति एवं सभ्यता को पुनर्जीवित एवं पुनर्स्थापित करने के उद्देश्य से स्थापित की गई थीं।

आपके कंधों पर जीवन का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है और मुझे पूरा भरोसा है कि आप अपनी शिक्षा और अनुभव के बल और आधार पर उसे योग्यतापूर्वक संभाल सकने में सफल हो सकेंगी। अब तक आपका विद्यार्थी-जीवन रहा, अब आगे आपका व्यावहारिक और क्रियात्मक जीवन रहेगा और आपको अपने जीवन के कार्य-क्षेत्र में अनेक समस्याओं का सामना करते हुए आगे बढ़ना है। मुझे आशा है कि आपने यहाँ जो शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की उससे आप शक्ति और स्फूर्ति ग्रहण कर, स्वतन्त्र देश की दायित्वपूर्ण नागरिकाओं की तरह उसे निवाह सकेंगी। यह सब आपके लिए तब संभव होगा जब आप यह अच्छी तरह समझ लेंगी कि आपको अपने जीवन में क्या-क्या करना है ?

प्राचीन काल में हमारे देश में स्त्रियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व उत्कृष्ट स्थान रहा है। प्राचीन भारत की स्त्रियों ने बड़ी निपुणता तथा चतुरता के साथ बुद्धि और त्याग के बल पर गृह एवं अनेकानेक सामाजिक कार्यों में भाग लिया और वे ममाज के सर्वांगीण विकास में सहायक रहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे गणित-शास्त्र, नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, गार्हस्थ्य-शास्त्र आदि सभी विषयों

१. भाषण : कन्या महाविद्यालय, जालन्धर का समावर्तन समारोह, २६ सितम्बर, १९५२।

में पारंगत थीं। सीता, सावित्री, गार्गी, लीलावती आदि स्त्री-रत्नों के नाम लेते हुए आज भी हमारा मस्तक गर्व से ऊँचा उठता है। हमारे यहाँ की स्त्री-जाति का चरित्र प्राचीन काल से उन्नत था और उसकी परम्परा उज्ज्वल थी। उनके चरित्र आज भी नारी-जाति के सम्मुख ज्वलन्त उदाहरण के रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं। नारी देवी है, धात्री है और उसमें वह सृजनात्मक शक्ति है जिससे मानव-समाज का निरन्तर विकास और कल्याण होता रहता है। वह अपनी सृजनात्मक शक्ति से घर के अन्दर और बाहर काम करती हुई समाज की सर्वांगीण उन्नति में सहायक सिद्ध हो सकती है। इस तरह उसकी जितनी महान् शक्ति है उतना महत्त्वपूर्ण उत्तर-दायित्व भी उसके कंधों पर है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए मैं लड़कियों की शिक्षा को अधिक महत्त्व देता हूँ। हम चाहे अपने सामने कितने ही महान् व उच्च आदर्शों को लेकर राज्य-व्यवस्था क्यों न स्थापित कर लें, हमारी आर्थिक एवं सामाजिक विचारधारा कितनी भी समान एवं उदार क्यों न हो, जब तक हमारी अगली पीढ़ी का शारीरिक एवं मानसिक सौष्ठव व गठन शिशु-जीवन में ही—बाल्य-काल में ही—ठीक नहीं बनता तब तक हम अपने देश में चिरस्थायी सुख और शान्ति स्थापित करने में सफल नहीं हो सकते। इसलिए मेरा यह ख्याल है कि दफ्तर या कारखाने में काम करने की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य स्त्रियों का घर में हो सकता है जिसे वह सुचारु रूप से चला सकती हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन्हें कूप-मण्डूक बनाया जाय या उन्हें घर की चहारदिवारियों में क़ैद करके रखा जाय। वह अपने गार्हस्थ्य-जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन के अनेक कार्यों में भाग ले सकती हैं और उन्हें सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकती हैं और यह उन्हें करना भी चाहिए। इसके लिए वह स्वतन्त्र और समान हकदार हैं। साथ ही इस स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता का अर्थ यही है कि वह अपना विकास करती हुई मानव-समाज की सर्वांगीण उन्नति में अपनी प्रत्येक शक्ति का उत्तमोत्तम उपयोग करें जिससे समस्त मानव-जाति का कल्याण हो और इसमें वह स्वयं भी सम्मिलित हैं।

भारतीय स्त्री-जाति की प्राचीन गौरव-गौरमा एवं उच्च परम्पराओं को ध्यान में रखकर न केवल आज की नारी को शिक्षित होना है, बल्कि शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् पुरुषों के साथ सहगामिनी बनकर अपने आपको सब दिशाओं में आगे बढ़ाना है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अब राष्ट्र के नव-निर्माण के कार्य में उसे भी उचित रीति से भाग लेना चाहिए। यह सब तभी संभव हो सकता है जब हम वर्तमान शिक्षा-पद्धति की कमियों एवं दोषों को दूर कर उसको अपने अनुकूल एवं उपयोगी बना लें। इस सम्बन्ध में भी परस्पर विरोधी विचारधाराएँ देश में प्रचलित हैं। आधुनिक सुधारवादियों या अपने को प्रगतिशील कहने वालों की यह धारणा है कि बालक-

बालिकाओं को एक साथ शिक्षा दी जाय और दोनों की शिक्षा-प्रणाली एक-सी हो। उनका यह भी ख्याल है कि स्त्रियों को न केवल शिक्षा-पद्धति में ही बल्कि और क्षेत्रों में भी पुरुषों के बराबर हक और अधिकार मिलने चाहिए। उन्हें सम्पूर्ण सामाजिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए, समाज के समस्त व्यवसाय और व्यापारों में समान रूप से भाग लेना चाहिए और इन सबके अनुकूल ही शिक्षा-प्रणाली की रचना होनी चाहिए। दूसरी ओर कट्टरपंथियों के विचार इनके विपरीत हैं। इस तरह स्त्री-शिक्षा और अन्य बातों के सम्बन्ध में हमारे देश में धर्ममान समय में परस्पर विरोधी विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। इन दोनों में से कौनसी विचारधारा उपयुक्त हो सकती है और किस के द्वारा हमारी संस्कृति एवं सभ्यता फल-फूल सकती है, इस पर ध्यान देना आवश्यक है। जहाँ तक मेरा अपना ख्याल है मैं समझता हूँ कि हमारे लिए इन दोनों के बीच के मार्ग को अपनाना श्रेयस्कर होगा।

वर्तमान शिक्षा-पद्धति के आदर्श एवं उद्देश्यों में जो कमियाँ या दोष पाये जाते हैं उनके अलावा वह बहुत खर्चीली भी साबित हो रही है। प्रतिवर्ष हम अपने शिक्षालयों के द्वारा हजारों विद्यार्थियों को तैयार करते हैं जिनमें से बहुतों के लिए नौकरियाँ न मिलने पर जीविका चलाना बहुत मुश्किल हो जाता है। इस तरह हम अपने शिक्षालयों के द्वारा जहाँ काफ़ी संख्या में बेकार व्यक्तियों को तैयार होते देखते हैं वहाँ फ्रेशनपरस्तों को भी तैयार होते देखते हैं। हमारे साधारण गृहस्थ-घरों के लड़के-लड़कियाँ जब प्रारम्भ में आधुनिक शिक्षालयों में प्रवेश पाती हैं तो वहाँ की फ्रेशनपरस्ती का शिकार वह भी धीरे-धीरे हो जाती है और सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य साड़ियाँ एवं तरह-तरह की साज-शृंगार की वस्तुओं की नकल करने लगती हैं। इससे वे अपने माँ-बाप या अभिभावकों को पर्याप्त मात्रा में पंसा खर्च कराने की नौबत या परेशानी में डाल देती हैं। इतनी खर्चीली शिक्षा प्राप्त कर जब वह स्कूल या कालेज छोड़कर जाती हैं, तो उनको जीवन के भारस्वरूप होने का भय रहता है, क्योंकि जीवन के कार्यक्षेत्र में वह खर्चीली शिक्षा-पद्धति आमदनी के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकती। वह नौकरी की उम्मीद भी पूरी नहीं कर सकती और यह शिक्षा अन्त में उनके लिए निकम्मी मालूम पड़ती है। इसलिए हमें सचेत होकर यह सोचना है कि क्या वर्तमान शिक्षा-पद्धति ही हमारे लिए उपयुक्त है या इसमें कुछ सुधार की आवश्यकता है। हम केवल लकीर के फ़कीर बने रहें, यह हमारी बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।

अब हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि हम शिक्षा-प्रणाली में और तदनुसार पाठ्यक्रम में कौन कौनसे परिवर्तन या संशोधन करें जिनके द्वारा लड़के-लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त कर अपने जीवन के कार्यक्षेत्र में सफल और स्वावलम्बी बन सकें जिससे उनको नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटकना न पड़े या दूसरों पर निर्भर न रहना

पड़े। इस सम्बन्ध में हमारी दृष्टि सहज ही उस शिक्षा की ओर जाती है जिसके द्वारा विद्यार्थी केवल शिक्षित ही नहीं होता है बल्कि शिक्षा समाप्त करने पर स्वावलम्बी बनकर कुछ कमाने का रास्ता भी निकाल सकता है। शिक्षा के साथ-साथ यदि परिश्रम व उसके महत्त्व और उपयोगिता की भी जानकारी कराई जाय, तो वह शिक्षा लाभदायी सिद्ध हो सकती है। इसी नयी पद्धति को महात्मा गान्धी जी ने नयी तालीम का नाम दिया था। इसके अनुसार किसी क्रियात्मक या रचनात्मक काम के द्वारा ही ज्ञान की वृद्धि और शरीर, मस्तिष्क तथा चरित्र तीनों की उन्नति करायी जा सकती है। हमारी शिक्षा-संस्थाएँ इस ओर ध्यान देकर स्वावलम्बन की मानसिक प्रवृत्ति का वातावरण शिक्षालयों में पैदा कर सकती है। इस तरह जहाँ बेकारी की समस्या का थोड़ा-बहुत हल हो जाता है, वहाँ हम अपने बच्चों की उन शक्तियों को भी जाग्रत कर देते हैं जो अन्ततः मनुष्य की तरक्की की एकमात्र साधन हैं।

स्त्री का कार्यकुशल होना अत्यन्त आवश्यक है। गार्हस्थ्य-जीवन के निर्वहण में उसका पुरुष के साथ पूरा-पूरा सहयोग होना चाहिए। स्त्रियों को घर चलाने आदि के काम में कुशल होना चाहिए और छोटे-छोटे काम-काज करने में भी संकोच नहीं करना चाहिए। पढ़-लिखकर सुशिक्षित होने के बाद घर-गृहस्थी के कार्यों से दूर भागना या मूंह मोड़ना स्त्रियों के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता। स्त्रियों के कार्यकुशल एवं स्वावलम्बी बनने में ही उनकी गौरव-प्रतिष्ठा और उनकी मान-मर्यादा है। कुछ लोग स्वावलम्बी बनने का अर्थ बहुत संकुचित कर देते हैं और मानने लगते हैं कि शिक्षा द्वारा स्त्रियों को नौकरियों के योग्य बना देना उनको स्वावलम्बी बना देना है। स्वावलम्बी होने का यथार्थ रूप तो यह है कि स्वावलम्बी स्त्री या पुरुष को दूसरे पर निर्भर करने की कम-से-कम जरूरत पड़े। क्या घर का सारा काम-काज सँभाल लेना इसका एक लक्षण नहीं है? क्या अपने बच्चे के पालन-पोषण यहाँ तक कि दूध के लिए भी धाय पर निर्भर रहना परावलम्बन की पराकाष्ठा नहीं है? इसलिए सच्चा स्वावलम्बन वही है जिसमें वह दूसरों पर—चाहे वह मालिकिनी बनकर, नौकर अथवा नौकरानी बनकर चाहे वह कितना ही उच्च पद क्यों न हो, मालिक पर निर्भर न हो—अथवा उसे कम-से-कम निर्भर रहना पड़े।

प्रकृति और ईश्वर ने मानव-जाति को कायम रखने का भार स्त्रियों पर रखा है और मनुष्य का सृजन पुरुष नहीं स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। इस गौरवपूर्ण और विशिष्ट दायित्व को स्त्रियों और समाज को समझ लेना चाहिए और चाहे जो भी शिक्षा-पद्धति हो उसमें इसकी गरिमा या अनिवार्यता को ध्यान में रखना चाहिए। यह जरूरी नहीं है कि स्त्री और पुरुष दोनों सभी काम करें। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था नहीं की। इसलिए उन्हें अपने सबसे बड़े उत्तरदायित्व मानवमात्र के सृजन को सबसे पहले सँभालना

चाहिए। वह सृजन का काम संतानोत्पत्ति के साथ समाप्त नहीं होता। वह तो जब तक स्त्री जीती-जागती रहती है, मनुष्य को उन्नत बनाने में चलता ही रहता है। इस महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का पालन करने के लिए विद्यालयों में लड़कियों को सुशिक्षित होकर अपने देश के सर्वांगीण विकास में उचित रीति से सहायक सिद्ध होना होगा।

यह महाविद्यालय इसी कर्तव्य-साधना, नारी-जाति की जाग्रति और सुधार के लिए तथा सामाजिक जीवन में सच्ची उन्नति एवं मानव-कल्याण के लिए अपना योग देने में संलग्न है। आप मानव-संस्कृति के विकास तथा नारी के उसमें उपयुक्त स्थान को ध्यान में रखते हुए ऐसा क्रियात्मक कार्यक्रम बनाये रखें जिससे सत्य, अहिंसा तथा शान्तिपूर्ण ढंग से भारतीय जन-जीवन को परिष्कृत व परिमार्जित करने में आपका यह महाविद्यालय स्नेह और सहयोग का आनन्द-मन्दिर समझा जाय।

शिक्षिता नारी का दायित्व'

किसी भी देश का आधा जन-समूह यदि पीछे पड़ जाय, तो वह देश उन्नति-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। हमारे शास्त्रों में स्त्री को अर्द्धांगिनी कहते हैं और अंगरेजी में उसे (Better half) अर्थात् अर्द्ध का बेहतर आधा कहते हैं। सच है यदि मनुष्य के किसी छोटे अर्द्ध में भी लकवा मार जाय तो वह बहुत अंशों में बेकार हो जाता है, पर जिसका आधा अर्द्ध सारा-का-सारा लकवे का शिकार बन जाय तो वह बिलकुल ही बेकार हो जाता है। इसलिए यदि देश के हितचिन्तकों का ध्यान स्त्रियों की शिक्षा की ओर गया, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है,—विशेषकर इस युग में जब चारों ओर देश में स्वतन्त्रता की आवाज उठ रही है और जो दबे हैं, उनको उठाने की; जो बलित हैं उनके उद्धार की; जो पीड़ित हैं उनकी सुश्रुषा की और जो पीछे पड़े हैं उनको आगे बढ़ाने की चेष्टा में सभी कुछ-न-कुछ करने पर आमादा हैं। प्रयाग-निवासियों ने इस महिला विद्यापीठ की स्थापना करके केवल प्रयाग अथवा युक्त-प्रान्त का ही नहीं, वरन् उत्तर भारत के बहुत बड़े हिस्से का उपकार किया है। आपने बहुत बड़ा काम अपने हाथों में ले लिया है और मेरी यही प्रार्थना है कि उसके महत्त्व को ध्यान में रखते हुए इस संस्था को और भी जितनी सहायता आप दे सकते हैं, देवें, जिसमें यह तीर्थराज के योग्य एक और भी तीर्थ-स्थान हो जाय।

मुझे यह सुनकर बड़ा सन्तोष हुआ कि आपके विद्यापीठ के प्रधान तथा उपप्रधान महाशय इस फ़िरक में हैं कि सभी राष्ट्रीय विद्यालयों का एक संघ क्रायम हो जाय। इसका कुछ प्रचार भी हुआ है। मैं इस प्रयत्न को अच्छा समझता हूँ क्योंकि आज सारे देश में बहुतेरे राष्ट्रीय शिक्षालय बिलखे पड़े हैं और यदि उन सबको किसी एक सूत्र में बाँध दिया जाय तो उनकी शक्ति बढ़ जायगी और सबको एक-दूसरे से सहायता प्राप्त हो सकेगी। आप यदि इसमें सफल हुए तो यह बड़े महत्त्व और गौरव की बात होगी।

बहनो ! आप में से जिनका सौभाग्य यहाँ शिक्षा प्राप्त करने अथवा यहाँ की परीक्षा में उत्तीर्ण होने का हुआ है, बड़ी भारी जवाबदेही लेकर संसार में प्रविष्ट हो रही हैं अथवा जो पहले से ही संसार में प्रविष्ट हैं उन पर भी बड़ी जिम्मेदारी नये

तौर से आ जाती है। आप जानती हैं कि हमारा स्त्री-समाज अभी बहुत बातों में पीछे पड़ा है। उसके लिए दोष उस समाज का नहीं है। उसकी जिम्मेदारी पुरुषों पर है। पर दोष चाहे जिसका हो उस समाज को आगे बढ़ाना हम सब का काम है। शिक्षा पाकर स्त्री यह न समझ बैठे कि उसका काम समाप्त हुआ। सच पूछिये तो उसका सार्वजनिक काम अभी आरम्भ होता है।

भारतवर्ष में काम की कमी नहीं है। कमी है काम करने वालों की। आप चाहे जिस ओर ध्यान दें, वहाँ ही सेवा की ज़रूरत नज़र आती है। स्त्रियाँ केवल शोभा के लिए अथवा विलास के लिए नहीं हैं। उनका हृदय ईश्वर ने ही कोमल बनाया है। दया की वह प्रतिमा हैं। साथ ही जहाँ अपने ऊपर कष्ट लेने की बात होती है वहाँ वह पत्थर और लोहे से भी अधिक सक्षम हैं। हमारे समाज में पुरानी राति के अनुसार उनका स्थान बहुत ऊँचा है। यदि पुरुष घर के बाहर का काम करने और देखने-भालने के लिए था तो स्त्री घर की मालकिन थी और उसके बिना घर का कोई छोटा या बड़ा काम नहीं हो सकता था। स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरे के अधूरेपन को पूरा करने के लिए बनाये गये हैं। जैसे स्त्री और पुरुष के संयोग के बिना बच्चा नहीं हो सकता उसी प्रकार उनके एक दूसरे की सहायता के बिना बच्चों का पालन-पोषण नहीं हो सकता। ईश्वर ने ही दोनों के शरीर की गठन-शक्ति और रूपरेखा अलग-अलग बना दिये है। दोनों के हृदयों और मस्तिष्कों में भी विभिन्न शक्तियाँ हैं। इसलिए हम इस बात का पता लगा लें कि इनमें से किसके योग्य कौनसा काम है और उसके सुपुर्द वही काम करें। अकसर देखा जाता है कि स्त्री भी पुरुष का काम कर सकती हैं। मैं समझता हूँ कि यह अपवाद है। यदि स्त्रियों और पुरुषों में काम का विभेद न मानकर सभी को योग्य समझकर सभी कामों में लगा दिया जाय तो बड़ी गड़बड़ी मच सकती है। स्त्री और पुरुष तो अलग हैं। यदि सभी पुरुषों को उनकी योग्यता और शक्ति पर विचार किये बिना सब कामों में लगा दिया जाय तो भी बड़ी गड़बड़ी मचेगी। समाज ने यदि स्त्रियों के लिए अलग जीवन-क्रम निश्चित किया है तो उचित ही किया है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि स्त्रियों का स्थान कुछ कम अथवा छोटा समझकर ऐसा किया गया है। ऐसा न किया जाय तो लाभ के बदले हानि होने की सम्भावना है। हाँ, दोनों के बीच में ऊँच-नीच, बड़े-छोटे, कमज़ोर और जोरावर का भेदभाव नहीं होना चाहिए। ऐसा होने से ही उनकी व्यक्तिगत और सामूहिक शक्तियों का पूरा विकास हो सकता है और उन विकसित शक्तियों से हम पूरा लाभ उठा सकते हैं।

जन-समाज को जिन्दा रखने का भार नारी पर है। वही उसकी वृद्धि करती है और वही उसे जिन्दा रख सकती है। उसके असीम कष्ट सहे बिना जन-समाज की

संख्या में एक की भी वृद्धि नहीं हो सकती ! शिक्षा का फन यह होना चाहिए कि हमारी भावी सन्तान अधिक स्वस्थ, अधिक जहीन और अधिक पुष्ट हो । इसके लिए नारी को अपना जीवन अधिक स्वस्थ, अधिक शुद्ध और अधिक संयमी बनाना होगा । सन्तान का पालन-पोषण भी उसका ही विशेष कर्तव्य है । उसके शरीर को पुष्ट और स्वस्थ रखने का काम उसी का है । उसे भी वह संयम और विद्या से ही कर सकती है । उसको जानना चाहिए कि किस भोजन से किस प्रकार सफाई रहती है और किस प्रकार के खेल से बच्चा पुष्ट और स्वस्थ रह सकता है । उसके बाद जब वह कुछ बड़ा हो जाय तो बचपन से ही उसकी प्रथम शिक्षा का भी भार उस पर ही रहता है । माता प्रथम गुरु कही गई है । जो सद्भाव और जो सद्विचार दूध के साथ ही पिला दिये जाते हैं, वह कभी ढीले नहीं पड़ सकते । यही कारण है कि संसार के जितने महान् पुरुष होते आये हैं, उन पर उनकी माता की छाप बहुत अधिक पाई जाती है । यह सब बातें पुरानी हैं । सभी इन्हें जानते हैं । इन बातों को दुहराने की जरूरत इस कारण से पड़ती है कि कहीं-कहीं ऐसा देखने में आता है कि इस सर्वोच्च कर्तव्य की ओर से नारी का ध्यान अन्यत्र आकर्षित हो जाता है । कुछ विचार-प्रवाह भी ऐसे चल पड़े हैं कि बराबरी के युग में इस अत्यन्त पवित्र और महान् कार्य पर इतना जोर नहीं दिया जाता जितना देना चाहिए । स्त्री को ऐसा आप हर्षित न समझें कि वह हीन अथवा बलहीन है । वही तो शक्ति है और वही वह काम करती है जो पुरुष कर ही नहीं सकते । संसार को क्रायम रखने का गौरव और जिम्मेदारी उसी की है । यह आवश्यक है कि वह इस जिम्मेदारी को समझकर अपने को इसके योग्य बनाये । इस योग्यता के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं मन, वचन और कर्म सभी से शुद्ध रहे, संयम रखे और उनसे केवल पवित्र काम ले । यदि शरीर स्वस्थ न रहा तो स्वयं तो कष्ट उठाना ही पड़ेगा साथ-साथ भावी सन्तान भी हीन और कमजोर होगी । स्वस्थ होने के लिए भोजन पुष्टकर होना चाहिए—चाहे वह स्वादिष्ट हो अथवा न हो । हम अक्सर स्वाद को अधिक महत्त्व देकर स्वास्थ्य को बिगाड़ लेते हैं और अपने तथा समाज के साथ भारी अन्याय करते हैं । इसलिए स्वाद पर अधिक ध्यान न देकर भोजन के दूसरे गुणों की ओर ही ध्यान देना चाहिए । केवल भोजन पर ही स्वास्थ्य निर्भर नहीं है, शरीर को व्यायाम की भी जरूरत पड़ती है । हमारे समाज में कुछ ऐसा बुरा रिवाज चल पड़ा है कि किसी प्रकार के धन्धे में हम अपमान समझते हैं । यदि धन्धा और व्यायाम दोनों का सम्मिश्रण हो जाय तो इससे बढ़कर शारीरिक और आर्थिक उन्नति का दूसरा रास्ता नहीं हो सकता । इसलिए नारी को विचार करके घरेलू धन्धों में से ऐसे विशेष काम खोज निकालने होंगे जो आर्थिक सहायता के साथ-साथ शरीर को भी पुष्ट बनाते हों ।

स्त्री को यह भी जान लेना चाहिए कि भोजन और व्यायाम से ही पूरा स्वास्थ्य वह नहीं पा सकती। शरीर पर मन का बहुत बड़ा अधिकार होता है। शरीर जो कुछ करता है मन की प्रेरणा से ही करता है। इसलिए मन को स्वस्थ बनाना अत्यन्त आवश्यक है। जब सुन्दर और पवित्र विचार बराबर संचरित होते रहेंगे और किसी प्रकार की गन्दगी नहीं आने पावेगी तभी मन और विचार बराबर शुद्ध और पवित्र रह सकेंगे और तभी शरीर अपवित्र कामों की ओर नहीं झुकेगा। इसको आप केवल पुस्तकों में लिखी अथवा सभाओं में कहने योग्य ही सुन्दर बातों की लच्छी न समझ लीजिए। आप इसे अक्षरशः सत्य समझ लें कि शरीर से जितने काम होते हैं उनका उद्गम-स्थान मन और विचारशक्ति है और वहाँ पर भ्रष्टता आ गई तो वह बाहर निकले बिना नहीं रह सकती। वह किसी-न-किसी रूप में बाहर निकलेगी ही। इसीलिए ब्रह्मचर्य पर और पतिव्रत-धर्म पर इतना जोर दिया गया है। लोग अकसर कह बैठते हैं कि पुरुषों का यह जुलम है कि स्त्रियों के लिए इतने कड़े नियम बनाये और अपने को स्वतन्त्र छोड़ दिया। मेरी समझ में यह बात पहले तो गलत है कि पुरुषों के लिए कड़े नियम नहीं हैं। उनके लिए भी हैं। पर यदि मान भी लें कि नहीं हैं तो इसमें मैं समझता हूँ कि पुरुष अपनी हीनता स्वीकार करता है न कि अपना बड़प्पन घोषित करता है। इन कड़े नियमों का अर्थ ही यह है कि स्त्री की जिम्मेदारी बड़ी है—उसका काम महान् है और शक्ति बड़ी है। उनको संसार के लिए किसी प्रकार घटने न देना ही उन नियमों का लक्ष्य है। श्री रामचन्द्र से भी अधिक बलवती यदि सीता न होती और उनकी तपस्या और संयम यदि श्री रामचन्द्र से भी अधिक उत्कृष्ट न होता तो रामचन्द्र से भी अधिक बली पुत्र वह न जन सकती। रामचन्द्र ने यदि जहाँ-तहाँ कुछ कमजोरी भी दिखाई तो श्री जानकी का चरित्र बिलकुल बेदाग है। हमारी बहनें उसी सीता को आदर्श समझकर अपने को हमेशा पुरुषों से अधिक बलवती, अधिक चरित्रवान् और अधिक उपकारी बना सकती हैं। पुराणों में ऐसी बहुत कथाएँ हैं जहाँ देवताओं पर गाढ़ विपत्तियाँ आई हैं और जब कभी वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ पाये गये हैं तब उनकी रक्षा देवियों ने ही की है। यदि उनकी शक्ति देवताओं से अधिक न होती तो वह ऐसा न कर पातीं। इसका उदाहरण एक छोटे पैमाने पर हमने अपनी आँखों देख लिया है। जहाँ हमारे पैर उखड़ गये वहाँ अशिक्षित बलहीन समझी जाने वाली पदों में बन्द स्त्रियों ने ही काम संभाला और देश की इज्जत बचा ली। मैं चाहता हूँ कि नारी ऐसा विचार न करे कि उसे भी वही काम करने हैं जो पुरुष करते हैं। दोनों के लिए काम बड़ा है और अपने-अपने अलग-अलग कामों को ही दोनों पूरी खूबी के साथ अंजाम दे सकते हैं।

संसार की वृद्धि और रक्षा का काम उसके ज़िम्मे है। यदि वह सन्तान की

इच्छा करे तो केवल इसलिए नहीं कि वह जब तक छोटी रहे, खेलने का काम दे और जब वह स्वयं बूढ़ी हो जाय तो उसकी सहारा बने । बल्कि नारी यह उच्च भावना और आदर्श सामने रखे कि उसकी सन्तान देश और मानव-मात्र की सच्ची और उपकारी सेवक हो और अपनी प्रतिभा और त्याग से अंधेरे में रोशनी और मुर्दनी में जिन्दगी को पैदा करने वाली हो ।

जहाँ चारों ओर स्वत्वों की धूम है वहाँ में नारी का ध्यान केवल कर्तव्यों की ओर ही आकर्षित कर रहा हूँ । मेरी समझ में यदि कर्तव्य-पालन किया जाय तो स्वत्व स्वमेव आ ही जाते हैं । उनके लिए विशेष प्रयत्न की जरूरत नहीं पड़ती । पुरुषों के हृदयों पर यदि नारी का स्वत्व हो जाय तो इससे बढ़कर दूसरा स्वत्व और क्या हो सकता है ? हृदयों पर स्वत्व का अर्थ केवल वह लचड़ कमजोर भावुकता नहीं है जो प्रेम के नाम से प्रचलित हो जाती है । सच्चे स्वत्व और प्रभुत्व में अन्तर नहीं है । मैं चाहता हूँ कि नारी के त्याग, सच्चरित्रता, सद्भावना और उच्चादर्श का सच्चा प्रभुत्व पुरुषों पर हो जाय, वह केवल दिखाऊ स्वत्वों के लालच में पड़कर उस प्रभुत्व को न भूल जाय जिसे ईश्वर ने उसे दिया ।

गुरुकुल और राष्ट्रीय शिक्षा

इस देश की प्राचीन शिक्षण-शैली अपने ढंग की निराली थी। आज की प्रचलित शैली से वह बहुत ही भिन्न थी। उसी शैली द्वारा शिक्षित पुरुषों और नारियों के रचित ग्रन्थ-रत्न आज भी संसार को चकित कर रहे हैं। हमारा संस्कृत-साहित्य अत्यन्त प्राचीन होने के अतिरिक्त अत्यन्त मधुर और प्रगाढ़ विद्वत्तापूर्ण भी है। चाहे जिस विषय को आप लें और संसार के किसी देश की भाषा के साहित्य से उसकी तुलना करें, भारत का सिर ऊँचा ही रहेगा। उस शैली को आज हम भूल गये हैं, पर उसके चिह्नों को देखकर आज भी गौरव और गर्व का अनुभव भारतवासियों को होता है। उस शैली का मर्म वही है जो हमारी सभ्यता का मूल मंत्र है। हम अपनी शिक्षा द्वारा ऐसे मनुष्य तैयार करना चाहते हैं जो यमनियमादि को मानते और साधने हुए सर्वभूतहित में रत रह सकें। संसार की प्रगति आज दूसरी ओर है। आज संसार का अर्थ यूरोप ही समझा जाता है और उसकी रीति-नीति, आचार-व्यवहार संसार की सभ्यता के लिए कसौटी और माप समझे जाते हैं। यदि हमारी रीति में कुछ ऐसा पाया जाय जो उस कसौटी पर जाँचने के बाद खरा न निकले तो वह निकम्मा समझा जाता है। हम भारतीयों की मनोवृत्ति अंगरेजी शिक्षा के फलस्वरूप कुछ ऐसी हो गई है कि हम सब कुछ पश्चिमी रोशनी में ही देखना चाहते हैं। मैं यह नहीं कहता कि उस पश्चिमी सभ्यता में कुछ सार अथवा सत्य नहीं है पर मैं यह भी नहीं कहता कि जो कुछ है उसी में है और सारा जगत् मिथ्या है। उस सभ्यता और परिपाटी की नींव प्रवृत्ति में है, हमारी निवृत्ति में है। हम यदि किसी विषय में विशेष प्रवृत्ति भी रखते हैं तो वह निवृत्ति के भाव से ही, हम कर्म भी करते हैं तो उसी भाव से।

श्रीमद्भगवद्गीता में इसी भाव की पुष्टि की गई है यथा.....

कर्मण्यकमयः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराशयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
 शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
 यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
 समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥

श्रीमद्भगवद्गीता ४, १८-२२

पण्डित या बुद्धिमान् वही है जिसके संपूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं; जिसका धर्म कामनालिप्त नहीं है और जिसने ज्ञानरूप अग्नि द्वारा अपने कर्मों को कामना और संकल्परहित बना डाला है। भोगों की सामग्री का त्याग करना और अन्तःकरण पर विजय प्राप्त करके धर्मक्षेत्र में अग्रसर होना ही श्रेष्ठ है। द्वन्द्वों से छूटकर अपने आप जो कुछ प्राप्त हो उसी में संतुष्ट रहना और मिद्धि के बन्धन से दूर रहते हुए हर अवस्था और हर काल में समबुद्धि बनाये रखना ही हमारे लिए आदर्श है।

इसके ठीक विपरीत पाश्चात्य अर्थशास्त्र का पहला नियम यह है कि मनुष्यमात्र की सभ्यता की माप उसकी अधिकाधिक बढ़ती हुई प्रवृत्ति ही है। उसी नियम का यह फल होता है कि जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता है उसकी जरूरतें बढ़ती जाती हैं और उन जरूरतों को पूरा करने के लिए उसे प्रयत्नवान् होना पड़ता है। इस प्रयत्न में उसे इसी प्रकार दूसरे प्रयत्नवान् मनुष्यों का मुकाबला करना पड़ता है और जब दोनों अपना आकांक्षा पूरी करने पर तुले रहते हैं तो आपस की मुठभेड़ होती है। इस प्रयत्न में यूरोप आज अपनी सारी शक्ति—बल, बुद्धि, विद्या और धन—को लगा रहा है और इसका नतीजा यही है कि वहाँ की वैज्ञानिक उन्नति को देखकर हम अचम्भे में आ जाते हैं। पर हम यह भूल जाते हैं कि इस वैज्ञानिक उन्नति के कारण आज संसार में कितना ही अनिष्ट भी हो रहा है। हम यह नहीं कहते कि इससे कुछ भी लाभ नहीं है। पर इष्ट और अनिष्ट दोनों को जब तराजू के पलड़े पर तौला जाय तो कदाचित् अनिष्ट का ही पलड़ा नीचे रहेगा। आज हम यह देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं कि विज्ञान द्वारा मनुष्य के दुःख दूर करने के बहुत से उपाय और साधन निकले हैं। यदि सच्चे ज्ञान से काम लेकर इस विज्ञान को संसार के हित के ही काम में लगाया जाता तो वास्तव में संसार के लिए एक अत्यन्त शुभ काम होता। पर निवृत्ति और त्याग का आदर्श सामने न रहने के कारण यह सारी शक्ति एक घातक प्रतिद्वन्द्विता में लगाई जा रही है। हम ज्ञान-विज्ञान के विरोधी नहीं हैं और न इसके ही विरोधी हैं कि ऐतिहासिक उन्नति और सुख की चेष्टा की जाय। पर हमारे सद्ग्रन्थों के जो आदर्श हैं उनको हम बचा रखना चाहते हैं। यूरोपीय विचारशील पुरुष भी आज पश्चिमी घुड़दौड़ को कुछ असन्तोष और सन्देह की दृष्टि से देखने लगे हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि

उनमें त्याग, सत्य, श्रद्धा और निष्ठा नहीं है। यह सब अपने स्थान पर वर्तमान हैं और यदि यह भी कहें कि मात्रा में वे भारतवर्ष से अधिक वर्तमान हैं तो यह भी अत्युक्ति नहीं होगी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ख्रिष्टीय धर्म में प्रवृत्ति का ही उपदेश है क्योंकि हज़रत ईसा ने भी निवृत्ति का उपदेश सर्वमान्य बतलाया है।

पर आज यूरोपीय लोग उस उपदेश से उतनी ही दूर हैं जितना हम अपने आदर्शों से गिर गये हैं। भारतवर्ष के सामने और संसार के सामने सबसे बड़े महत्त्व का यही प्रश्न उपस्थित है कि इस युग की वैज्ञानिक उन्नति और प्राचीन निवृत्ति का समन्वय किस प्रकार किया जाय। हम दीन-हीन भारतीयों के लिए आज इस तरह की बातें मुंह से निकालना भी घृष्टता है। जो स्वयं निःसहाय होकर अज्ञान, स्वार्थपरता और पराधीनता के गढ़े में गिरा हुआ है, उसे दूसरों की स्थिति पर विचारने का क्या अधिकार है? तथापि अपने अतीत और भविष्य को ध्यान में रखते हुए अपना आदर्श निश्चित करने में इस पर विचार करना ही पड़ता है। आज की आबहवा और संसार की प्रगति देखकर हमें यह निश्चय करना है कि हमारे लिए इस प्रवाह में पड़ना कहाँ तक हितकर है?

वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष के रूप में ही गुरुकुल जैसी राष्ट्रीय संस्थाओं का जन्म हुआ है। अतएव इस असन्तोष को या यों कहिये कि इसके विधायक कारणों को दूर करना ही इनका प्रधान उद्देश्य हो सकता है। जहाँ तक भारतवर्ष का सवाल है असन्तोष के दो कारण कहे जा सकते हैं, एक तो यह कि वर्तमान युग की सारी शिक्षा-दीक्षा यूरोपीय साँचे में ढली हुई है। वह भारतवर्ष के अस्थिमज्जागत आदर्शों के, उसके अन्तःकरण के, उसकी आत्मा के सर्वथा विपरीत है। यह हम पहले ही दिखला चुके हैं। दूसरा एक कारण यह भी है कि वर्तमान प्रचलित प्रणाली हमारे बाह्य जीवन के, हमारी परिस्थितियों के और हमारी शुद्ध सांसारिक आवश्यकताओं के भी सर्वथा प्रतिकूल है। इन द्विविध दोषों को दूर करते हुए भारतवर्ष के योग्य उसकी भीतरी आत्मा और बाहरी परिस्थिति के अनुकूल शिक्षण-शैली का यदि ये विद्यालय पुनर्निर्माण कर सकें तभी इनका अस्तित्व न्यायोचित और लाभदायक समझा जा सकता है। ऐसी शिक्षण-शैली के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आज के सभी ज्ञान-विज्ञान का वर्जन, उसका तिरस्कार या उसका बहिष्कार किया जाय। नहीं, यह तो कभी जायज नहीं समझा जा सकता और न इस बहिष्कार या इसके अनुकूल मनोवृत्ति से आज के जमाने में रहने वाले किसी को लाभ ही पहुँच सकता है। ज्ञान-विज्ञान का वर्जन नहीं होना चाहिए, क्योंकि शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए वे भी आवश्यक हैं। उनका भी प्रभाव हमारे चरित्र पर, हमारे मनोभावों पर पड़ता है। वर्जन करना है तो उस चेष्टा का, उस मनोवृत्ति का जिसके कारण लोकहित के असीम शक्तिशाली साधन

अपने न्याय्य वास्तविक लक्ष्य से भ्रष्ट होकर भीषण, अमानुषिक, पैशाचिक रचनाओं में ही प्रयुक्त होते हैं। यदि दिनोंदिन बढ़ता हुआ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और तज्जात वर्तमान सभ्यता के रेल, तार, हवाई जहाज, अग्निपोत आदि सारे उपकरण प्राणीमात्र का दुःखलाघव करने, उन्हें सुख-समृद्धि देने, उन्हें आराम पहुँचाने के ही कामों में व्यवहृत हों तो इससे अच्छी बात क्या हो सकती है। हम चाहते हैं कि आधुनिक संसार की ये विचित्र शक्तियाँ उसके कल्याण में लगाई जायँ, किसी एक अंश वा जाति के ही कल्याण में नहीं बल्कि सारी मानव-जाति के कल्याण में लगाई जायँ और मानव-जाति ही क्यों प्राणीमात्र के कल्याण में लगाई जायँ। इस कारण हमारी आवश्यकता ज्ञान-विज्ञान का वर्जन नहीं, बल्कि उन्हें लोक-हितकर रखने और सदा लोक-हितकर रखने योग्य मनोवृत्ति का अर्जन करने की ओर है। पर यह तब तक सम्भव नहीं जब तक हमारी भोग और विलास की प्रवृत्ति उचित सीमा के अन्दर बद्ध न की जाय, जब तक यम और नियम की कड़ी साधना से हम अपनी इन्द्रियों को वश में न ला सकें और जब तक त्याग और सेवा से हम अपनी आत्मा को पुष्ट न करलें। हमारे गुरुकुलों तथा अन्य राष्ट्रीय विद्यालयों का यह उद्देश्य होना चाहिए कि आवश्यक ज्ञान-विज्ञान की चर्चा और सम्प्रदान करते हुए भी वे हमें आत्मनिग्रह, त्याग तथा सेवा की दीक्षा दें।

पर इतना ही यथेष्ट नहीं है। यद्यपि शिक्षा का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति का चरित्र-गठन, उसकी वैहिक-आत्मिक शुद्धि, उसका मानसिक विकास है, पर इतने से ही उसका काम संसार में नहीं चल सकता। मनुष्य तो अनेकांश में सामाजिक जीव है, वह संसार का एक अंग और वह भी छोटा-सा अंग है। वह अपने इर्द-गिर्द रहने वालों से अपने समाज और देश के लोगों से किनारे रहकर उन्नति नहीं कर सकता। यही नहीं बल्कि अपनी परिस्थिति के भला या बुरा होने पर, अपने सगे-सम्बन्धी, अपने हितमित्र, अपने ग्रामवासी, प्रान्तवासी या देशवासी के सुख-दुःख पर उसका भी अनेकांश में भला-बुरा, सुख-दुःख निर्भर है। इसलिए वह जो कुछ जानता है, जो कुछ सीखता है, जो कुछ उपार्जन करता है, जो कुछ भी शक्ति—आर्थिक, मानसिक या आत्मिक—उसके पास है, उस सबका उचित उपयोग यही हो सकता है कि वह उन्हें अन्य लोगों के हित में लगावे। इस कारण भारत की कोई भी ऐसी संस्था राष्ट्रीय या भारतीय कहाने की हकदार नहीं हो सकती जा अपने विद्यार्थियों को भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति का, उसके अभावों का, उसकी आवश्यकताओं का, बोध न करावे; जो भारतीयों की हीनता का, उनकी दीनता का, उनके कष्टों का, उनकी कठिनाइयों का, उनकी दुःख-दरिद्रता का तथा उनके गुण-दोष का अनुभव न करा सके; जो उन्हें उनके क्लेशों से मुक्त करने का, उनकी कमियों को पूरा करने का, उनकी दुर्बलता को दूर करने का, उनमें वृद्धता लाने का, उनमें उमंग-उत्साह भरने का, उनकी बिखरी शक्ति का संचय करने का, सारांश उनमें नवजीवन-

संचार करने का मार्ग न बतावे और उस मार्ग पर संकल्प, साहस, अध्यवसाय और एकाग्रता के साथ चलने की अभिरुचि और योग्यता न उत्पन्न करे। यदि प्राचीन आध्यात्मिकता और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का समन्वय हमारे विद्यालयों का मूल है तो देश का उद्धार, समाज का सुधार और दुःख-दरिद्रता से लोगों का निस्तार उनका पक्व मधुर फल है, उनकी चरम परिणति है। हम चाहते हैं कि हमारे सब राष्ट्रीय विद्यालय इस ओर अपना ध्यान दें और इसी को अपना ध्येय, अपना लक्ष्य बनाकर इसी ओर अपने विद्यार्थियों को प्रवृत्त करावें, इसी की उन्हें दीक्षा दें और इसी की उपयुक्त शिक्षा देने में अपनी सारी शक्तियों को लगावें।

यह तो सब कोई जानते हैं कि भारतवर्ष के अधिकांश लोग ग्रामों में ही रहते हैं और उनका प्रायः सारा सरोकार ग्रामों से ही है। मर्दुमशुमारी की रिपोर्टों से पता चलता है कि १९२१ में भी प्रायः ६० फ्री सदी मनुष्य ग्रामों में ही रहते थे और १८६१ से १९२१ तक अर्थात् पूरे तीस वर्षों में नगरों की जनसंख्या में केवल १ सैकड़ की वृद्धि हुई है। यदि यह क्रम जारी रहा तो भी भारतीयों के नगरवासी होने में प्रायः तीन हजार वर्ष लगेंगे। इस कारण कार्यतः हमें इस बात को स्वीकार कर लेना होगा कि भारतवर्ष ग्रामीण है और कम-से-कम हजारों वर्ष तक ग्रामीण रहेगा। ऐसी दशा में ग्राम और ग्राम्य-जीवन को ही भारतवर्ष के राष्ट्र और भारतीय सभ्यता का आधार मानकर हमें अपनी शिक्षण-शैली निर्मित करनी होगी। अतएव ज्ञान-विज्ञान, धर्म-संहिता चाहे जिस विषय या कला के शिक्षण का हम प्रबन्ध करें, हमें सदा ध्यान रखना होगा कि ग्राम्य-जीवन का सुदृढ़ और संस्कृत भित्ति पर पुनःसंगठन ही हमारा मुख्य कार्य होगा। यदि हम वास्तव में भारत का कल्याण चाहते हैं और उसके सम्पादन में उचित भाग लेना चाहते हैं तो उसी में हमारी विद्या-बुद्धि का सदुपयोग होगा, उसी में इनको प्रयुक्त करना होगा, उसी ओर इनके मुख को मोड़ना पड़ेगा, और इनके शक्ति-केन्द्र को झुकाना होगा।

आज की सरकारी शिक्षा-प्रणाली इसकी विपरीत दिशा की ओर प्रबल वेग से दौड़ती जा रही है। यदि इसके इन प्रायः डेढ़ सौ वर्षों के इतिहास की समीक्षा की जाय तो पता चलेगा कि यह हमें अपने वास्तविक जीवन-केन्द्रों (देहातों) से हटाकर नगर की ओर ही लिये जा रही है। हम इतने दिनों में क्या बने हैं? वकील, इञ्जीनियर, डॉक्टर और सबसे बढ़कर सरकारी दफ्तरों के नौकर। जो लोग अपने को स्वाधीन पेशेवर कहते हैं जैसे वकील, डॉक्टर, इञ्जीनियर आदि वे भी नाम के ही स्वाधीन हैं। वास्तव में वे उतने ही पराधीन हैं जितना कि कोई साधारण सरकारी नौकर हो सकता है। वे जहाँ चाहें वहाँ जाकर अपनी विद्या, बुद्धि या कौशल का उपयोग नहीं कर सकते। थोड़े से इने-गिने शहरों में ही उनका जौहर खुलता और

खुल सकता है। जिन साधनों और उपकरणों के जरिये वे अपना काम करते हैं वे, नगरों की ही कृति हैं, वहीं उनकी प्राप्ति सुलभ है तथा वहीं उनका प्रयोग और उपयोग सम्भव है। सरकारी नौकरों का तो कुछ कहना ही नहीं है। उनका तो मुख्य कर्मक्षेत्र नगर ही है। जैसे-जैसे इस प्रणाली का वेग बढ़ता गया है और हम इसके प्रवाह में इच्छा या अनिच्छा से, समझ यानि समझी से खिंचते गये हैं, वैसे ही वैसे हम ग्रामों से विमुख होकर शहरों की ओर चल पड़े हैं और आज हमारा ग्रामों से परिचय भी बाक़ी नहीं रह गया है। बहुतों को तो छुआछूत की भी नौबत नहीं आती। यदि यह रोग यहीं पर रुक जाता तो भी उतना बुरा नहीं होता। पर नहीं, यह तो हैजा, विसूचिका से भी अधिक संक्रामक है। हमारी चाल-ढाल को देखते-देखते वे व्यक्ति भी हमारा अनुकरण करने लगे हैं जिन्हें नौकरी के पेशे से कोई सरोकार नहीं, जैसे जमींदार, ताल्लुकेदार आदि। वे भी देहातों को छोड़कर शहरों में रहना सभ्यता का लक्षण समझने लगे हैं और उनमें से अनेकों ने अपना निवास शहरों में ही कर लिया है और यदि कुछ सरोकार अब तक देहातों से रखते हैं, तो वह शहरों के खर्च मुहैया करने के लिए ही रखते हैं। इसका जो परिणाम हुआ है वह सर्वत्र स्पष्ट रूप में जाहिर है। देहातों में भंख लोट रहा है। उनकी रौनक जाती रही, उनकी शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गईं, उनकी सुसंगठित पंचायतें लुप्त हो गईं। वहाँ के लोग तरह-तरह की बीमारियों के शिकार बन रहे हैं, इसको देखने वाला कोई नहीं है। उनके लिए दवा-दारू का इन्तजाम करने वाला कहीं कोई नहीं है। आज देहाती लोग दुःख-क्लेश से पीड़ित हैं, दरिद्रता की चक्की में पिस रहे हैं, भूख और अनशन से प्राण-त्याग कर रहे हैं, उनकी खोज-खबर करने वाला, उनका करुण क्रन्दन सुनने-सुनाने वाला कोई नहीं है। हम अपनी आँखों से सब देख रहे हैं, पर नौकरी की मोहमाया हम से नहीं छूटती और छूटे भी कैसे? नौकरी ने तो अफ्रीम की घुट्टी की तरह हमें निर्बल, निश्चेष्ट, निरुद्यम, निरुत्साह बना दिया है। हम में सोचने-समझने की, यहाँ तक कि हाथ-पैर चलाने की भी शक्ति बाक़ी नहीं रह गई है।

पर नौकरी हमें काफ़ी तादाद में मिल जाती है, यह बात भी नहीं है। यह तो मृगतृष्णा की नाई, मरीचिका की नाई हमें अपनी ओर खींचे लेती है। यह हमारी पिपासा को तृप्त नहीं करती, हमारे हृदय की ज्वाला को शान्त नहीं करती, बल्कि मृगतृष्णा की तरह अन्त में हमारे सर्वनाश का ही कारण हो जाती है। हम न तो इधर के रहते हैं, न उधर के हो सकते हैं। नागरिक जीवन बिताने का साधन नौकरी मिलती ही नहीं और देहाती जीवन के उपयुक्त हम बनाये ही नहीं गये। आज सरकारी स्कूलों और विश्वविद्यालयों के प्रचुर व्यय और परिश्रम से उत्पन्न मेट्रिकुलेटों, बल्कि ग्रेजुएटों को देखिये। उनसे बढ़कर क्या कोई और करुणा का उपयुक्त पात्र हो

सकता है ? ऐसी दस-बीस रुपये की मामूली नौकरी भी कोई नहीं है, जिसके लिए इन में से सैकड़ों की दरखास्तें वर्षा की बूंदों की तरह अज्ञान धार में न बरसती हों। तब फिर क्योंकर यह कहने का कोई दावा कर सकता है कि सरकारी शिक्षालयों में पढ़ने से नौकरी मिलती है। सरकारी विद्यालयों के, सरकारी शिक्षण-पद्धति के, बड़े-से-बड़े, कट्टर-से-कट्टर पक्षपातियों से मैं पूछता हूँ—क्या वे बता सकते हैं कि उनमें पढ़े हुए सबको नौकरी मिल जाती है या किसी-न-किसी रूप में उस पढ़ाई के बल पर ही उनकी रोटी का सवाल हल हो जाता है ? यदि नहीं; तो फिर बारबार यह सवाल क्यों पूछा जाता है कि राष्ट्रीय विद्यालयों के विद्यार्थियों का भविष्य क्या होगा, उनकी रोजी कैसे चलेगी ? यदि रोटी का प्रश्न दोनों जगह एक-सा ही है तो राष्ट्रीय विद्यालयों को ही लोग क्यों न अपनावें, क्योंकि इनमें कम-से-कम देश-सेवा राष्ट्र-सेवा और समाज-सेवा का अवसर तो मिलेगा जो सरकारी विद्यालयों की मार्फत नहीं मिल सकता। वहाँ तो केवल सरकारी चक्की को चलाना है, सरकार को अपना राज्य कायम रखने में मदद करना है, उसके शासन को हमारे गले में गुलामी के तौक की तरह बाँधे रखने में अनजान उपकरण बनना है—अपनी ही विद्या-बुद्धि को अपने विरुद्ध और दूसरों के हित में लगाना है।

यदि सरकारी शिक्षण-पद्धति सरकार के हितार्थ बनी है तो राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली राष्ट्र के हितार्थ होनी चाहिए और राष्ट्र का केन्द्र जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, ग्रामों में है, शहरों में नहीं। हमारी शिक्षा को उसका अनुगामी होना है, केन्द्रानुग शक्ति की तरह उसे सदा उसी केन्द्र की ओर संचारित होना है, उसे सर्वथा ग्रामाभिमुखी बनना है। हम बहुत दिनों तक लक्ष्यभ्रष्ट, पथभ्रष्ट होकर इधर-उधर घूमते रहे हैं। हमें शीघ्र अपने वास्तविक लक्ष्य, अपने सच्चे पथ पर आ जाना चाहिए और गुरुकुल जैसी राष्ट्रीय संस्थाओं को ही हमें इस पथ पर ले जाने का श्रेय होना चाहिए।

जिस समय अंगरेजी शिक्षा-प्रणाली की नींव इस देश में पड़ी थी, तब लॉर्ड मेकाले ने अंगरेजी शिक्षा का लक्ष्य सरकारी कर्मचारी तैयार करना निर्धारित कर लिया था और उस समय से आज तक सरकारी विश्वविद्यालयों ने उस लक्ष्य को अपने सामने बराबर रखा है। उन विश्वविद्यालयों में समय-समय पर नियमों में, पाठ्यक्रम में और पठन-पाठन की शैली में परिवर्तन होता गया है, पर वह लक्ष्य कभी नहीं बदला। इसी प्रकार हमारी शैली और पाठ्यक्रम में प्रदल-बदल होते रहने पर भी हमारा लक्ष्य सदा एक ही होना चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षालयों का यह उद्देश्य और प्रयत्न होना चाहिए कि उच्च शिक्षा और ज्ञान के साथ अपने विद्यार्थियों में सच्चरित्रता और शुद्ध सेवा-भाव उत्पन्न करके उनको इस योग्य बनायें कि देशहित और लोकहित के काम उनके द्वारा सम्पादित हो सकें। देश की अवस्था इतनी गिरी हुई है कि इसके लिए

असंख्य त्यागी सेवकों की आवश्यकता है और वे भा ऐसे सेवक नहीं जो केवल धन और सुख की लालसा को छोड़ सकते हों। पर ऐसे सेवक जो यश और ख्याति की भी अभिलाषा न रखते हों। सच पूछिये तो धन और सुख की लालसा छोड़ देना उतना कठिन और कष्टकर नहीं है जितना यश और ख्याति की अभिलाषा से मुँह मोड़ना। पर यदि हम सच्ची सेवा करना चाहते हैं तो यह ग्रामीणों के साथ रहकर ही हो सकती है और उसका यशगान करने वाला विरला ही कोई मिलेगा। यदि धन की लालसा धन के लिए न रखकर पर-सेवा की योग्यता प्राप्त करने के लिए रखी जाय तो वह भी मनुष्य को उचित सीमा से बाहर नहीं निकलने देगी और मनुष्य धन का दास न बनकर उसका स्वामी, वास्तविक रूप से जैसा होना चाहिए वैसा हो सकेगा। इसलिए विद्यालयों का मुख्य कर्तव्य विद्यार्थियों का चरित्र-गठन ही है। पर वहाँ का जीवन भी कुछ ऐसा होना चाहिए जिसमें भविष्य के काम का कुछ अनुभव भी छात्रों को हो जाय। इस कारण ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अतिरिक्त शिक्षाक्रम में ऐसे विषयों का समावेश होना चाहिए जिनसे ग्राम्य-जीवन के विविध अंगों से उनका पूर्ण परिचय हो जाय और ग्रामीणों की सेवा की पूरी योग्यता उनमें आ जाय।

मनुष्य के सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए दो प्रकार की आवश्यकताएँ हैं—एक शारीरिक और दूसरी आध्यात्मिक। शारीरिक आवश्यकताओं में अन्न और वस्त्र ही मुख्य हैं। इन दोनों की साधारण रीति से पूर्ति होने पर ही मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक आध्यात्मिक विषयों का चिन्तन और मनन कर सकता है। इस सुजला, सुफला और शस्य-श्यामला भारतभूमि में अन्न पूरी मात्रा में उत्पन्न हो सकता है और यद्यपि उसमें भी बहुत-कुछ सुधार और उन्नति की गुंजाइश है, पर इस समय हमारे सम्मुख वस्त्र की बड़ी कमी है। इसके लिए हमें विदेशों और विदेशियों पर ही निर्भर करना पड़ता है जिसके कारण हमारे अप्रचुर अन्न-धन का भी एक बड़ा भाग बाहर चला जाता है। इस सम्बन्ध में मार्क की बात यह है कि प्रायः ६० करोड़ के कपड़े विदेशों से आते हैं और करीब इतने ही मूल्य के अन्न विदेशों को जाते हैं। इस समय हमारे गरीब किसान अपनी जरूरियात को अन्न बेचकर ही पूरा कर सकते हैं। इसलिए कपड़े के बदले उन्हें अन्न ही देना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि वस्त्र के विषय में वे स्वतन्त्र हो जायें तो उन्हें जीवन की प्रधानतम आवश्यकता अन्न से वञ्चित न होना पड़े। इस तरह की स्वतन्त्रता का लाभ करना चरखे द्वारा पूर्ण मात्रा में सम्भव है। मिलों से इतने कपड़े का बन जाना सम्भव जरूर है, पर इसका लाभ किसानों को नहीं हो सकता और उनके लिए जो स्वतन्त्रता हम चाहते हैं, उन्हें नहीं मिल सकती। चरखे का यही महत्त्व है कि यह व्यक्तिगत रूप से हर आदमी को स्वतन्त्र बना सकता है और इस प्रकार उनके मार्ग से इस बड़ी बाधा को दूर कर, उन्हें आध्यात्मिक उन्नति

के पथ पर अग्रसर करा सकता है। हमारे शिक्षालयों द्वारा देश का यह बड़ा काम साधित होना चाहिए। ज्ञान-विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय के वास्तविक कार्यक्षेत्र में यह एक बहुत ही सुन्दर और आवश्यक उदाहरण होगा। पर इस काम को उचित रूप से सम्पन्न करने के लिए तथा जनता की अन्य प्रकार की उन्नति और भाववृद्धि करने के लिए अनेकानेक कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है जो प्राचीन भिक्षुओं और संन्यासियों की तरह शुद्ध लोकहित और सेवा के भाव से गाँव-गाँव में फैल जायें और हमारी गिरी हुई जनता को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक जड़ता से मुक्त कर उसमें सच्चे, धार्मिक और स्वतन्त्रता के भाव उत्पन्न करें और उसे अपने पैरों पर खड़ा होने की योग्यता प्राप्त कराने में सहायक बनें।

तृतीय खण्ड

वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति

१

विज्ञान की साधना और साध्य

२

व्यावहारिक कृषि-विज्ञान

३

भारत में विज्ञान की प्रगति

४

सांख्यिकी-शास्त्र का महत्त्व

विज्ञान की साधना और साध्य

मैं जिस जमाने में कालेज में पढ़ता था उसी जमाने में शायद हमारे गवर्नर साहब भी पढ़ते थे और उन दिनों में साइंस को जो स्थान मिला था, वह बहुत छोटा था। गरचे उस जमाने में भी इन्टरमीजिएट में, जो एफ. ए. कहलाता था, साइंस पढ़ाई जाती थी, पर बहुत थोड़ी। सब लोगों को फ्रिज़िक्स, केमिस्ट्री आदि का ज्ञान नहीं दिया जाता था और न उस जमाने में बी. एस-सी. की कोई डिग्री थी। जो आर्टस् लेकर पास करते थे, वे बी. ए. कहलाते थे और साइंस लेकर बी. ए. पास करने वाले बी. कोर्स में बी. ए. पास कहलाते थे। मगर आप ऐसा न समझें कि उस वक्त साइंस के प्रोफ़ेसर नहीं हुआ करते थे। मुझे सर जगदीशचन्द्र बोस और डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे आचार्यों के नीचे बैठकर कुछ पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त था। उस वक्त से आज का हिन्दुस्तान बहुत बदल गया है। मैं मानता हूँ कि गरचे यूनिवर्सिटियों को स्थापित हुए १०० वर्ष हो गये। सब यूनिवर्सिटियों को नहीं, लेकिन जो पहली यूनिवर्सिटी कायम हुई वह प्रायः १०० वर्ष पहले हुई, मगर प्रायः ७०-७५ वर्ष तक साइंस की तरफ़ कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया और अगर हमारे देश ने बड़े-बड़े वैज्ञानिक तैयार किये तो वह हमारी यूनिवर्सिटियों की वजह से नहीं, बावजूद यूनिवर्सिटियों के वे निकले और उन्होंने जो कुछ किया वह मैं जानता हूँ कि कितनी दिक्कत से उन्होंने किया। मुझे याद है कि जब मैं प्रेसीडेन्सी कालेज में पढ़ता था तो वहाँ इस बात का झगड़ा रहा करता था कि सर जे० सी० बोस और डाक्टर पी० सी० राय को रिसर्च करने का मौका दिया जाय या नहीं। बात यह थी कि उन दिनों सर्विस का बटवारा ऐसा था कि जो लोग ग्रॉल इण्डिया सर्विस के समझे जाते थे और जो प्रोविन्शियल सर्विस के समझे जाते थे उन दोनों के बीच एक दमियानी सर्विस भी होती थी, जिसमें बोस और राय समझे जाते थे। उस जमाने में कोई ग्रंगरेज इंगलैंड से पास करके आ जाता तो वह डाक्टर बोस से भी सीनियर होता और उसको यह अस्तित्व रहता कि वह पढ़ाने के काम का बटवारा करे। इसी में झगड़ा रहता था। जो नये नवयुवक प्रोफ़ेसर आते थे उनके नीचे डाक्टर बोस और डाक्टर राय दोनों ही

हो जाते थे और वह उन पर बहुत पढ़ाने का काम लाद दिया करते थे। वह सुबह ६ बजे से ६ बजे रात तक लेबोरेटरी में काम करते थे और बीच-बीच में लैक्चर भी दिया करते थे। बाकी समय में रिसर्च किया करते थे। एक दिन वह था और एक दिन आज है जब आपकी यूनिवर्सिटी में ७६ छात्र रिसर्च के काम में लगे हुए हैं। इतना बड़ा अन्तर यूनिवर्सिटी की पढ़ाई में पड़ गया है और यह अन्तर अगर समझा जाय तो जैसे और काम में अन्तर पड़ा है उसी तरह से पड़ गया है। ऐसा होना भी चाहिए। यह युग साइंस का युग है। इस युग में कोई भी देश साइंस से बढ़ेगा, प्रगति करेगा और जहाँ साइंस नहीं होगी वहाँ उसको पीछे रहना पड़ेगा, इसमें कोई शक नहीं है। इसलिए भारतवर्ष आज बहुत बातों में पीछे पड़ गया है क्योंकि इसको मौका नहीं था कि साइंस में जितना हिस्सा यह लेना चाहता था, उतना ले। अब इसको इसका मौका मिलने लग गया है।

मैं समझता हूँ कि देश भर में साइंस का काम होने लगा है और दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। थोड़े ही दिनों में इसको पूरा मौका मिलेगा और आज के ऐसे इक्के-दुक्के नहीं, बल्कि बड़ी तादाद में साइंस वाले काम में लग जायेंगे और हमारे देश का दूसरे देशों जैसा ही स्थान साइंस के क्षेत्र में होगा। साइंस में जो पिछले दो सौ वर्षों में तरक्की हुई है, उसके चिह्न आज सभी जगह देखे जा रहे हैं। जो पिछड़े हुए देश हैं, वहाँ भी उसका कुछ तो असर पड़ ही गया है। हमारी दिन-प्रति-दिन की जिन्दगी में भी उसका असर पड़ा है और वह असर दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा है।

मैं समझता हूँ कि अब कुछ दिनों के अन्दर यह चीज भी आ रही है कि दूर से जो एक दूसरे से फोन पर बातें करते हैं, उनका मुँह भी टेलीविजन पर देख सकें। यह इस देश में भी आ जायगी। अभी दूसरे देशों में है। मालूम नहीं अभी कोई यहाँ आई है या नहीं। अगर नहीं आई तो जल्दी ही इस देश में भी आ जायगी। इस तरह एक आदमी बहुत दूर बैठकर भी दूसरे आदमी की सिर्फ बातें ही न सुन सकेगा बल्कि उसे देख भी लेगा। जहाँ रोशनी नहीं पहुँचती वहाँ भी हम दिन बना सकते हैं और मुमकिन है कि दिन को रात भी बना सकें। हम लोगों ने बचपन में सुना था और यह रामायण में भी लिखा हुआ है कि रावण ने पवन को क्रोध करके रखा और वह उसका घर प्रतिदिन बहार जाता था और रावण ने मेघ को भी क्रोध करके रखा था और वह जब जहाँ चाहता था पानी बरस जाता था। हम लोग समझते थे कि यह सब कल्पित चीजें हैं, मगर आज हम देख रहे हैं कि पवन, मेघ और कोई ऐसी चीज नहीं रह गई है जिसे मनुष्य ने अपने बस में कुछ हद तक न कर लिया हो और जो बाकी रह गई है उस पर भी कुछ दिनों में वह काबू कर ही लेगा। अब प्रश्न यह है कि हम उनका रावण के जैसा इस्तेमाल करें या राम के जैसा। हम उनका इस्तेमाल लोगों की और संसार

को भलाई के लिए करें या उनकी बुराई के लिए। आज यूनिवर्सिटियों के सामने और सब देशों के सामने यही बड़ा प्रश्न है। केवल ताकत हमारी ही नहीं बढ़ती जा रही है, संसार की ताकत भी बढ़ती जा रही है। उस ताकत को हम विनाश में लगायेंगे या रचनात्मक काम में लगायेंगे, यही प्रश्न हम सबके सामने है। मैं यह आशा रखूंगा कि हमारी यूनिवर्सिटियों में कम-से-कम इस तरह की शिक्षा देने का व्यवस्था तो होनी ही चाहिए कि हम उसको किस तरह से प्रयोग में लायेंगे। उसको समेटने के लिए तैयार करने की व्यवस्था भी होनी चाहिए। अगर यह नहीं होगा तो मालूम नहीं कि देश का क्या होगा और संसार का क्या होगा? साइंस अपनी जगह पर बहुत बड़ा काम कर रही है। अगर कोई कहे भी कि हम अपने को इससे अलग रख सकते हैं तो यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि ऐसा करना संभव नहीं है। मेरा ख्याल है कि अगर भारतवर्ष आज इस शक्ति का इस तरह से उपयोग करे और इस तरह से अच्छे काम में लगाये तो यह दुनिया को कुछ दे सकेगा और साइंस के लिए उसकी यह एक बड़ी देन होगी जिसके लिए सारा संसार उसका कृतज्ञ होगा। आज हमारी यूनिवर्सिटियों के सामने यही चीज आती है। केवल जितनी मौलिक चीजें हैं उन पर क्लाबू पाना ही काफी नहीं है, बल्कि उन पर क्लाबू करके उनको किस तरह से काम में लायेंगे, यह सीखना भी आवश्यक है। इसके लिए जितनी तैयारी की जरूरत है उतनी ही तपस्या की और उतनी ही योग की जरूरत है। मैं मानता हूँ कि आजकल के सच्चे योगी वे ही हैं जो लेबोरेटरी में काम कर रहे हैं। जो लोग अपने हाथों को ऊपर करके हाथों की हड्डियाँ मुखा देते हैं वह भी सच्चे योगी नहीं हैं। जो लोग एसिड लेकर पी जाते हैं और लोहा खा जाते हैं और उनका कुछ नुकसान नहीं होता, वह भी सच्चे योगी नहीं हैं। सच्चे योगी वह हैं जो लेबोरेटरी में बैठकर दिन-रात एक करके संसार में छिपी हुई शक्ति खोज निकालते हैं और उससे काम लेना सीखते हैं। मगर हम शक्ति के उपाजन के साथ-साथ इसका प्रयोग करना भी सीखें तो अच्छा होगा। साइंस की सबसे बड़ी देन उसका निर्भीक तरीका है। वह किसी चीज का सच्चा रास्ता बतलाता है। छानबीन के बाव यदि कोई चीज जिसे वह सच्चा रास्ता मानता रहा है, गलत साबित हो जाय तो वह किसी चीज पर मोह न करके उसे छोड़ देता है। ऐसा बारम्बार हुआ है। हम लोग जब पढ़ते थे तब हमने सुना था कि एटम चीरा नहीं जा सकता—उससे छोटी कोई चीज नहीं है, उसका टुकड़ा नहीं हो सकता। आज हम देखते हैं कि उसके अटूट टुकड़े से न मालूम कितनी चीजें हम तैयार कर सकते हैं। साइंस ने इस सत्य को बबाकर नहीं रखा। इस सिद्धान्त को छोड़ देने में साइन्टिस्टों को मोह नहीं हुआ। मैं चाहता हूँ कि जो साइंस में लगे हुए हैं वे अनासक्त होकर काम करें। मगर मैं जानता हूँ कि साइंस वाले भी कहीं-कहीं मोह में पड़

जाते हैं और प्रेजुडिस्ड हो जाते हैं। जिस चीज का उनको पता नहीं मिलता, वह समझते हैं कि उस तरह की कोई चीज है ही नहीं। मैं समझता हूँ कि साइंस का सब से सुन्दर सिद्धान्त यही है कि सब चीजों को देखते हुए वह नेति-नेति कहता है और जब तक वह भावना उसमें रहेगी, वह बढ़ता जायगा। उसको समझना चाहिए कि वह सच्चाई के अन्तिम रूप तक अभी नहीं पहुँचा है। हो सकता है कि जिसे वह आज ठीक समझता है वह कल गलत साबित हो और जो आज गलत मालूम होता है वह कुछ दिनों के बाद सही मालूम हो। मैं तो यही चाहूँगा कि साइंस के लोग इस तरह का गर्व नहीं करें कि जो उन्होंने कर दिया वह आखिरी बात है, बल्कि यह समझें कि वह आखिरी नहीं है। उन्हें उससे भी आगे मैदान तय करना है और उनकी जो विद्या है उसे ठीक तरह से काम में लाना है। वे किसी खोज को अपना बनाकर और छिपाकर नहीं रखें जिससे कि खोज करने में दिक्कत हो। इस तरह की बातें आजकल देखने में आती हैं। लोग कह देते हैं कि यह चीज आज की साइंस के मुताबिक नहीं है। हो सकता है कि उनका ऐसा कथन सच हो। मगर उसकी सच्चाई को देखना चाहिए और देखने के बाद अगर ऐसा होता हो तो उसे माना जा सकता है। मगर बिना पूरी तरह से जाँच किये अगर कोई ऐसा कहता है तो मैं कहूँगा कि यह उचित नहीं है और यह ठीक साइंस भी नहीं है। अगर इस तरह की सब चीजों पर ध्यान दिया जायगा और खोज में कोई आखिरी बात नहीं समझी जायगी और ऐसा समझा जायगा कि आगे भी मैदान तय करना है और इस तरह से सब काम में लगे रहेंगे तो मैं समझता हूँ कि दिन-प्रति-दिन साइंस के जरिये संसार की तरक्की होगी और आज जो वीभत्स ताण्डव नृत्य देखने में आ रहा है वह भी समाप्त हो जायगा।

आप भस्मासुर की कथा जानते हैं। उसने बड़ी तपस्या की और शिवजी ने उससे कहा कि वरदान माँगो। उसने कहा कि जिसके सिर पर मैं हाथ रख दूँ वह भस्म हो जाय—यही वरदान दें। उन्होंने कहा कि अच्छा ऐसा ही हो! अब उसने सोचा कि पार्वती के समान सुन्दर स्त्री दुनिया में कोई नहीं है, इसलिए शिवजी के सिर पर ही हाथ रख दूँ जिससे शिवजी भस्म हो जायँ और पार्वती मुझे मिल जाय। जब उसने शिवजी के ही सिर पर हाथ रखना चाहा तो उनको भागना पड़ा, क्योंकि वह अपना वरदान तो वापस ले नहीं सकते थे। शिवजी सारी दुनिया में भागते रहे और वह उनका पीछा करता रहा। पार्वती जी शिवजी का संकट देखकर भस्मासुर के पास आई और उससे पूछा कि तुम क्या चाहते हो? उसने कहा कि मैं आपको ही चाहता हूँ। उन्होंने कहा—'बस इतना ही! तो फिर इतना परेशान क्यों होते हो? मुझे खुश कर लो; मैं तुम्हारी स्त्री हो जाऊँगी।' उसने कहा कि आप खुश कैसे होंगी? उन्होंने कहा कि तुम अपने सिर पर हाथ रखकर नाचो और मैं उससे खुश हो जाऊँगी।

उस बवकूफ ने समझा नहीं और मामला खत्म हो गया । अतः साइंस चलते-चलते आज ऐसे स्थान पर पहुँच गई है कि वह भस्मासुर का नाच कर रही है । यदि वह समझी नहीं तो उसकी भी भस्मासुर की ही गति होगी । मैं चाहता हूँ कि हमारे देश के साइन्टिस्ट लोग साइंस का ज्ञान हासिल करने में अपने को आगे बढ़ायें मगर साथ-ही-साथ यह भी सीखें कि वे भस्मासुर की तरह किसी के सिर पर विनाशकारी हाथ तो नहीं रख रहे ।

व्यावहारिक कृषि-विज्ञान^१

यहाँ फिर एक बार आने से और इस प्रतिष्ठान में किये जाने वाले कार्य को देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है। जब मेरा कृषि-मन्त्रालय से सम्बन्ध था तब मैं कई बार इस प्रतिष्ठान में आया था। लेकिन जब से मैं विशाल भवन में गया हूँ तब से यहाँ आने का मेरा यह पहला अवसर है। आपके कार्य में मुझे सच्ची विलचस्पी है। उसका कारण यह है कि मैं समझता हूँ और आपको भी इस बात को समझना चाहिए कि भारत का मुख्य उद्योग कृषि है। भारत में ८० प्रतिशत से भी अधिक लोग इस पर निर्भर करते हैं और उद्योग भी अपने कच्चे माल के लिए कृषि पर ही निर्भर करता है। अतः मेरा विचार है कि जो काम आप यहाँ पर कर रहे हैं वह देश की सबसे अच्छी सेवा है। आजकल हमें इस बात का प्रयास करना है कि हमारे कृषकों की ऐसी सहायता की जाय कि वे हमारी सारी जनसंख्या के लिए अन्न उपजाने के लिए समर्थ हो जायें। वास्तव में यह अत्यन्त खेद और लज्जा की बात है कि जो भारत अब तक कृषि-प्रधान देश रहा है वह अपने लिए पर्याप्त अन्न नहीं पैदा करता। इस कारण आपके कार्य का महत्त्व पैदा होता है। अब यह आपका काम है कि हमारी आवश्यकतानुसार अन्न पैदा करने में आप देश की सहायता करें। हमारी जनसंख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ रही है। हम भूमि का क्षेत्र नहीं बढ़ा सकते। यह ठीक है कि अभी तक कुछ भूमि ऐसी है जिसे खेती में नहीं लगाया गया है और जिसे खेती में लगाया जा सकता है। किन्तु वह इतनी नहीं है कि हमारी बढ़ने वाली जनसंख्या के लिए पर्याप्त हो। अतः यह प्रश्न है कि आवश्यक अन्न को कैसे पैदा किया जाय। इस बारे में कुछ तो करना ही है।

हमारे सामने यह काम है कि हम भूमि की पैदावार की मात्रा बढ़ाने की रीति का पता चलायें। विज्ञान ने जीवन के अनेकों क्षेत्रों में चमत्कारिक काम किये हैं। मेरा विश्वास है कि भारत भी यह चमत्कार दिखा सकता है। हमारे कृषक भी खाद देकर या दूसरे तरीकों से पैदावार बढ़ाने की कला जानते हैं, किन्तु उनके तरीके बहुत ही दक्षियान्सी हैं। मुझे आशा है कि वैज्ञानिक और शिल्पिक संस्थाओं की सहायता

१. भाषण : भारतीय कृषि-गवेषणा प्रतिष्ठान के स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के समक्ष, ३० अगस्त, १९५०।

से और विशेषतया आपकी संस्था के प्रयास से जो कृषि में सुधार के आधारभूत प्रश्न पर ही अपना सारा प्रयास केन्द्रित किये हुए है, हम भविष्य में अधिक पैदावार करने में सफल हो जायेंगे। मुझे विश्वास है कि आवश्यक अन्न किस प्रकार पैदा किया जा सकता है, यह तरीका सुझाने के लिए आप समर्थ सिद्ध होंगे। ऐसी कोई बात नहीं है कि भूमि के उतने ही क्षेत्र में अधिक अन्न क्यों न पैदा किया जा सके। अन्य देशों की तुलना में हमारे यहाँ फ्री एकड़ भूमि की पैदावार लगभग एक तिहाई या एक चौथाई है। किन्तु साथ ही आपको यह भी पता चलाना है कि इस बात के बावजूद कि हमारे देश में शताब्दियों तक खेती होती रही है फिर भी हमारी भूमि का उर्वरापन अभी बहुत कुछ बना हुआ है जब कि अमेरिका और आस्ट्रेलिया में जहाँ खेती वैज्ञानिक ढंग से की जाती है और जहाँ पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों से ही भूमि को खेती में लगाया गया था वहाँ भूमि के उर्वरापन में कमी आने के चिह्न वृष्टिगोचर हो रहे हैं। आपको यह पता चलाना है कि क्या कारण है कि अपने वैज्ञानिकों के बावजूद ये देश अपनी भूमि के उर्वरापन को बनाये रखने में असफल हो रहे हैं जब कि हमारे लोग जिनकी खेती का तरीका अवैज्ञानिक है पिछली शताब्दियों में अपनी भूमि के उर्वरापन को बनाये रखने में समर्थ सिद्ध हुए हैं। मेरा अपना विचार तो यह है कि साधारण कृषि में खाद के जरिये या फसल के हेरफेर से हम भूमि को वे चीजें लौटा भी देते हैं जो हम उससे निकालते हैं।

आधुनिक सभ्यता के युग में हम आमतौर से एक क्षण में इतनी चीजों का प्रयोग कर डालते हैं जितनी कि करोड़ों वर्षों में बन पाई है। उदाहरणार्थ, कोयले और पेट्रोल को लीजिए। हम उन्हें करोड़ों टन की मात्रा में काम में ला रहे हैं। इसको हम पुनः प्रकृति को वापस नहीं लौटा रहे हैं। बहुत काफ़ी छोटे पैमाने पर कुछ ऐसी ही बात खेती के लिए भी ठीक है। गहरी जुताई, रसायनों और उर्वरकों के प्रयोग से वे लोग पैदावार की मात्रा बढ़ाने में समर्थ हो गये हैं, किन्तु वे भूमि के उर्वरापन को बनाये रखने में समर्थ नहीं हुए हैं जब कि शताब्दियों तक खेती करने के बाद भी हम अपने उर्वरापन को बनाये रख सके हैं। यह ऐसी समस्या है जिसे हल करना आवश्यक है। मैं आप से कहूँगा कि आप इसे परम्परागत वृष्टिकोण से हल करें। अर्थात् आप इस बात का पता चलायें कि प्राचीन कृषि-प्रणाली में कौनसी ऐसी बात है जो इतनी हद तक उर्वरता को बनाये रखने में सफल हुई है।

अभी-अभी मैं आपके योगालयों को देख रहा था। वहाँ मुझे बताया गया है कि फसल में हेरफेर और विभिन्न प्रकार की फसलों के अभिमिश्रण से किस प्रकार उर्वरता को बनाये रखा जाता है। गाँवों की कृषि-प्रणाली की साधारण-सी बात है कि फसलें हेरफेर करके बोई जाती हैं। साथ ही वे एक समय में एक ही फसल नहीं

बाते । वे एक से अधिक फसल एक साथ बोते हैं । पहले मकई की फसल होती है । उसके बाद उड़द और तिल, फिर अरहर और उसके बाद रूई की फसल होती है । में रूई की फसल की बात तो भूल ही गया था । जून के दूसरे पखवाड़े में और जुलाई के पहले हफ्ते में रूई बोई जाती है । उड़द सितम्बर में बोई जाती है, अरहर मार्च में और रूई फिर आगामी जून मास में । किन्तु यह एक ही जगह में बोई जाती है और इससे फल यह होता है कि भूमि में वह द्रव्य लौट आता है जो कोई एक फसल उससे निकालती है । गेहूँ अक्टूबर में बोया जाता है । गेहूँ और जौ एक ही भूमि में बोये जा सकते हैं । वे एक साथ ही बोये जा सकते हैं । इसी प्रकार गेहूँ के साथ चना बोया जा सकता है, क्योंकि दोनों की फसल एक ही समय में होती है । इस बात का पता चलाना जरूरी है कि फसलों के अभिभ्रण और हेरफेर से भूमि और पैदावार पर क्या असर पड़ता है ? यदि विभिन्न प्रकार की फसलों को मिलाकर बोया जाता है और एक की पैदावार ५ मन होती है तो उसे कम नहीं समझना चाहिए । यदि मकई ५ मन, उड़द ३ मन, तिल २ मन और अरहर ५ मन की एकड़ हो तो सबको जोड़कर गिनना चाहिए । इस प्रकार यह प्रकट होगा कि फसल अच्छी हुई है । किन्तु मैं यह चाहता हूँ कि आप इस बात पर अपना ध्यान केन्द्रित करें, गाँव वालों से यह पता चलाये, हर छोटी बात का हिसाब लगाकर उसकी अपनी वैज्ञानिक जानकारी और अनुभव से परीक्षा करें और पैदावार बढ़ाने में सहायक हों । मुझे आशा है कि आप काम का वह ढंग अपनायेंगे जिसे गाँव का आदमी भी मंजूर करेगा । यदि आप सर्वथा नये ढंग को अपनायेंगे तो गाँव वालों को उसको अपनाने में पर्याप्त समय लगेगा । इसलिए यह आवश्यक है कि आप इस समस्या पर खेती के वर्तमान ढंग को ध्यान में रखकर विचार करें । इसका अर्थ यह नहीं है कि आपको नये ढंगों का बहिष्कार करना है । इसके विपरीत मैं तो यह समझता हूँ कि जब अन्न की कमी हो तो अन्न की पैदावार बढ़ाने के किसी भी तरीके को अपनाया जा सकता है । यह आप वैज्ञानिकों का काम है कि यह बतायें कि यह बात कैसे की जा सकती है । मैंने आपके सामने यह सब सुझाव केवल एक ऐसे व्यक्ति की हैसियत से रखे हैं जो यद्यपि विशेषज्ञ तो नहीं है किन्तु जिसे खेती का थोड़ा-बहुत तजुर्बा है । मैंने यह किसी ऐसे व्यक्ति की तरह नहीं रखा है जो वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर इस बारे में कोई निर्णय दे सकता हो । अन्न के लिए हम दूसरे देशों पर निर्भर नहीं कर सकते । आप लोगों का यह काम है कि आप अपने ज्ञान को ऐसी शक्ति बना दें जो साधारण जनों द्वारा आसानी से समझी जा सके और जिसे वे केवल समझें ही नहीं बरन् काम में भी ला सकें ।

भारत में विज्ञान की प्रगति^१

मे वैज्ञानिक नहीं हूँ और इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी यदि मैं यह कहूँ कि इन प्रयोगालयों में आप जो कुछ क्रियाएँ कर रहे हैं उनके बारे में मैं सर्वथा अनभिज्ञ हूँ। किन्तु साधारण मनुष्य के नाते मैं इन क्रियाओं के परिणामों में गहरी दिलचस्पी रखता हूँ। सरकार वैज्ञानिक गवेषणा में बड़ी दिलचस्पी लेती रही है। यद्यपि पिछले वर्षों में विभिन्न विषयों में काम करने के लिए हमने सारे देश भर में लगभग बारह प्रयोगालय स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली है, तथापि इस संस्था को ही यह सम्मान प्राप्त है कि यह लगभग चालीस या उससे भी अधिक वर्ष पहले स्थापित हो गई थी। यह और भी बधाई की बात है कि इस संस्था की संस्थापक सरकार न होकर एक उद्योगपति थे जिन्होंने अपनी दूरदर्शिता, देशभक्ति और व्यापार-कुशलता द्वारा देश को न केवल इस्पात का बड़ा कारखाना ही प्रदान किया, वरन् अन्य कई कारखाने भी खोले जो टाटाओं के अधीन काम करके फूल-फल रहे हैं। यह संस्था बड़ा आश्चर्यजनक कार्य करती रही है। इसका शिलान्यास करके जो महान् सेवा जमशेद जी नौशेखा जी टाटा ने की थी उसे देश को याद रखना चाहिए।

जिस काम को आप यहाँ कर रहे हैं उससे देश को और संभवतः सारे मानव-समाज को बहुत लाभ होगा। आप ऐसी गवेषणा के कार्य में लगे हुए हैं जिससे अपने देश में ही पैदा की हुई औषधियों द्वारा हम कुछ रोगों की चिकित्सा करने में समर्थ हो जायेंगे और वह इतनी कम कीमत में कर सकेंगे कि वह बाहर से आयात की जाने वाली औषधियों की कीमत से कहीं कम होगी। आप ऐसा यन्त्र बनाने में लगे हुए हैं जो गाँवों में भी आसानी से मिलने वाले ईंधन का प्रयोग करके काम कर सकता है। हमारे यहाँ सारे कृषि सम्बन्धी काम में जो कठिनाइयाँ हैं उनमें से एक पानी की कमी है और यदि हम सिंचाई के लिए पर्याप्त पानी का प्रबन्ध कर सकें तो मुझे यकीन है कि देश की अन्न की समस्या बहुत आसानी से सुलभ जायगी। मेरी अपनी धारणा है कि देश के अन्दर ऐसे बड़े-बड़े क्षेत्र हैं जिन्हें जोता जा सकता है और जिनमें यदि

१. भाषण : अखिल भारतीय विज्ञान प्रतिष्ठान, बंगलौर : शक्ति-इंजीनियरी-विभाग तथा शुश्रूषिता इंजीनियरी-प्रयोगालय का उद्घाटन और जलविद्या-प्रयोगालय का शिलान्यास, १० अगस्त, १९५१।

पानी मिल सके तो हर प्रकार की चीज़ पैदा की जा सकती है। राजपूताने में जहाँ आपको सिवाय रेत और सूखी भूमि के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता, वहाँ जो कुछ मैंने देखा है उसके अनुभव पर मैं यह बात कहता हूँ कि वहाँ भी जब पानी का प्रबन्ध हो गया है तो रेतीली भूमि भी उसी प्रकार हरियाली हो गई है जैसी कि देश के किसी भी अन्य भाग की। हमें उन जिलों का भी तजुर्बा है जो अब पश्चिमी पंजाब में हैं और जिनकी अवस्था एक समय न्यूनाधिक उसी प्रकार की थी जैसी कि अब राजपूताने की है। अब वह जिले पंजाब के लिए अन्न-भण्डार बन गये हैं और वे हमें देश के दूसरे भागों के लिए भी काफी अन्न दिया करते हैं। अतः यदि आप कोई ऐसा यन्त्र बनाने में कामयाब हो जायें जो गाँवों में मिलने वाले ईंधन से चल सके तो मैं कहूँगा कि कृषि की मदद के लिए आपने बड़ा भारी काम कर दिया है।

किन्तु आप केवल इसी बात में ही तो नहीं लगे हुए हैं। मुझे बताया गया है कि विभिन्न प्रकार के खाद्यों के सम्बन्ध में भी आप प्रयोग कर रहे हैं और यदि मिल सके तो—मैं यद्यपि गाय का ही दूध पसन्द करूँगा, किन्तु तो भी आज के कमी के युग में आप गाय के दूध के स्थान पर कोई अन्य प्रकार की वस्तु दे सकें तो वह भी आपकी महान् सेवा होगी और मुझे इस बात को सुनकर खुशी है कि आप ऐसी चीज़ पैदा करने में बहुत-कुछ हद तक कामयाब हो रहे हैं जो यद्यपि गाय के दूध के समान बिलकुल अच्छी तो नहीं है तो भी यह लगभग गाय के दूध-जैसी ही है और पानी मिले गाय के दूध से अगर हम इसकी तुलना करें, और वैसा ही पानी मिला दूध आजकल मिलता है, तो हमें पता चलेगा कि यह उससे कहीं बेहतर है। साधारण जन की हेसियत से मैं इसी प्रकार के परिणामों में दिलचस्पी लेता हूँ।

यन्त्रों, हवाई जहाजों और इसी प्रकार की अन्य चीज़ों के सम्बन्ध में भी आप प्रयोग और गवेषणा कर रहे हैं। जैसा कि मैंने कहा है मैं इन बातों के बारे में कुछ ज्यादा नहीं समझता हूँ, किन्तु जिस दिन मैं अन्यत्र से आने वाले यन्त्रों के मुकाबले में आपके यन्त्रों को बेहतर काम करते देखूँगा उस दिन मैं आपके काम की तारीफ़ करूँगा। मुझे यकीन है कि मुझे उस दिन के लिए ज्यादा इन्तज़ार न करना पड़ेगा, जब कि आप मुझे इस बारे में सन्तोष प्रदान कर सकेंगे।

वैज्ञानिक जानकारी के लाभ के सम्बन्ध में मैं साधारण जन के नाते यह कहता हूँ कि मैं उसके परिणामों और फलों में ही दिलचस्पी लेता हूँ। सारे संसार में इस क्षेत्र में इतनी भारी प्रगति की जा रही है कि भारत जैसे देश के लिए यह बहुत कठिन हो जाता है कि जो तरक्की की जा रही है उसके अनुकूल ही वह आगे भी बढ़े। अभी अगले दिन की बात है कि दिल्ली में हमें एक अनोखी बात दिखाई दी। वास्तव में वह कोई ऐसा जहाज़ था जो दिल्ली के ऊपर उड़ रहा था, किन्तु जिसके बारे में सब

भारत में विज्ञान की प्रगति

लोगों को उत्सुकता पैदा हुई और इनमें मैं भी सम्मिलित था। मैंने सोचा कि इस बारे में सबसे ठीक बात यह होगी कि मैं इसका उस व्यक्ति से पता चलाऊँ जिसके सम्बन्ध में यह ख्याल किया जाता है कि वह इन मामलों में सबसे ज्यादा योग्य है। इसलिए मैंने हवाई बेड़े के सेनापति से पूछा और उन्होंने मुझे बताया कि यह एक हवाई जहाज था जो हिन्दुस्तान पर उड़ रहा था, किन्तु जिसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि वह कहाँ से आया और कहाँ गया। जो कुछ कहा जा सकता था वह केवल इतना ही था कि वह हवाई जहाज है और जब मैंने यह पूछा कि किसी दुश्मन के हवाई जहाज को इस प्रकार यहाँ आने से रोका जा सकता है या नहीं तो उन्होंने उत्तर दिया कि सैद्धान्तिक दृष्टि से तो यह सम्भव है, किन्तु इस प्रयोजन के लिए आवश्यक रडार यन्त्र इतना क्लीमती होगा कि भारत के लिए उसे खरीदना सम्भव न होगा। इससे प्रकट है कि वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से भारत को किन कठिनाइयों का सामना करना है। सम्भवतः अन्य देशों को भी ऐसी कठिनाइयों का मुक्काबला करना पड़ता है। हमारी अपेक्षा वे लोग तो इस काम में बहुत पहले से लगे रहे हैं। मुझे वह दिन याद है जब हमारे विद्यालयों में मुश्किल से ही कहीं विज्ञान पढ़ाया जाता था। कह तो मैं भी सकता हूँ कि मैंने कुछ विज्ञान पढ़ा है, किन्तु आजकल कोई भी वैज्ञानिक यही कहेगा कि वह विज्ञान तो कुछ विज्ञान ही नहीं था और यह बात अभी बिलकुल पचास वर्ष पहले तक थी। तब से इस देश में वैज्ञानिक अध्ययन की बड़ी तीव्र प्रगति हुई है। अब हमारे सब विज्ञान पढ़ाने वाले विद्यालयों में विद्यार्थियों के लिए वैज्ञानिक प्रयोगशालायें ही नहीं हैं, वरन् गवेषणा के काम में लगे हुए हमारे यहाँ अनेक आचार्य भी हैं और उनमें कुछ की कृतियों को तो संसार भर में बड़े महत्त्व का मान लिया गया है। हमने इस बिशा में पर्याप्त प्रगति की है, किन्तु हमें न केवल कुछ ख्यातनामा वैज्ञानिकों की ही आवश्यकता है, वरन् हमें इस बात की भी आवश्यकता है कि हमारी जनता के बहुत से लोगों में विज्ञान फैले। इस प्रकार की संस्था इस बारे में काफ़ी काम कर सकती है, क्योंकि जिन शिल्पिक ज्ञान रखने वाले अनेक व्यक्तियों की हमें आवश्यकता है उनको यह दे सकती है। हमें नदी-योजना-सम्बन्धी कल-विद्युत कारखाने के जरिये देश में बिजली के यन्त्रों के विकास की बड़ी आशा है। मैं यह नहीं जानता कि जिन कारखानों को बनाना हमने शुरू कर दिया है या जिनके बनाने का हमारा ख्याल है या जिनके बारे में जाँच हो रही है उनको वास्तव में बनाकर पूरा कर देना भी सम्भव होगा या नहीं। किन्तु इसमें कोई शंका नहीं है कि जब इनमें से कुछ बनकर पूरे हो गये होंगे और उनमें काम चालू हो गया होगा, तब हमारे शक्ति-साधनों में बहुत अभिवृद्धि हो गई होगी, और हमारे शक्ति-साधनों के बढ़ जाने के कारण जिन विभिन्न वस्तुओं की हमें आवश्यकता है उनकी पैदावार भी काफ़ी बढ़ गई होगी। अतः जिन

यन्त्रों की हमें आवश्यकता है, उनके अतिरिक्त हमें इन कारखानों को, जिन्हें कि हम स्थापित करेंगे, चलाने के लिए बड़ी तादाद में शिल्पिक योग्यता रखने वाले व्यक्तियों की जरूरत होगी और इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंस के समान ही संस्थाएँ इस प्रकार के कार्यकर्ताओं को हमें दे सकती हैं। उन लोगों के लिए पर्याप्त काम होगा और मुझे यकीन है कि इन संस्थाओं में से सफलता प्राप्त करने के पश्चात् निकलने वाला कोई व्यक्ति बेरोजगार नहीं रहेगा।

हमारे विश्वविद्यालय आजकल ऐसे स्नातक निकाल रहे हैं जो यह नहीं जानते कि डिग्री लेने के बाद वे अपनी डिग्रियों का या अपने जीवन का क्या करें, किन्तु इस प्रकार की शिल्पिक संस्थाओं की यह अच्छाई है कि जो विद्यार्थी इनसे निकलेंगे उनके पास वह योग्यता होगी जिससे वे तुरन्त लाभ उठा सकेंगे और जिसके लिए देश में पहले से ही काफी माँग है। अतः साधारण व्यक्ति के नाते ही मैं इन सब प्रयोगालयों और संस्थाओं में काफी दिलचस्पी रखता हूँ और इनसे अपना सम्बन्ध होना, चाहे फिर वह सम्बन्ध नाम के लिए ही क्यों न हो, मैं अपना भारी सौभाग्य समझता हूँ।

सांख्यिकी-शास्त्र का महत्त्व^१

भारत में आपका हार्दिक स्वागत करने में मुझे बड़ी प्रसन्नता है। मुझे इस बात का हर्ष है कि अन्तर्राष्ट्रीय सांख्यिकी सम्मेलन के वर्तमान अधिवेशन के हमारी राजधानी में होने से आप में से अनेकों को भारत की प्रथम बार यात्रा करने का अवसर मिला है। मुझे आशा है कि आप इस यात्रा से हमारे देश और हमारी जनता से परिचित हो जायेंगे और यहाँ से लौटते समय ऐसी स्मृति लेकर जायेंगे जो हमारे देशों में पारस्परिक मेल बढ़ाने में सहायक होगी।

संसार की समस्त जातियों में पारस्परिक शान्ति, मंत्री और सहयोग के आदर्श को भारत ने सर्वदा माना और इनकी प्राप्ति के लिए उसने व्यावहारिक रूप से कार्य किया। अतः संसार के सब देशों के जिन प्रमुख सांख्यिकों और अर्थशास्त्रियों ने पिछले साठ वर्षों में इस प्रकार के रचनात्मक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पैदा करने के लिए सम्मिलित प्रयास किया है, उन सबका इस सम्मेलन में स्वागत करने में मुझे बड़ी प्रसन्नता है। अपने प्रकाशित लेखों तथा वैज्ञानिक और शिल्पिक पत्रों द्वारा वैज्ञानिक लोग साधारणतः एक दूसरे के विचारों, सिद्धान्तों, प्रयोगों और सफलताओं से परिचित रहते हैं। किन्तु इस प्रकार के सम्मेलन में मिलने से ही जो वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है और बनाये रखा जा सकता है वह उनके पारस्परिक लाभ के लिए भी बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। इसके अतिरिक्त नये विचारों और तरीकों के विकास के लिए भी वैज्ञानिकों का सम्मेलन सर्वदा बहुत स्फूर्तिप्रद रहता है। मुझे आशा है कि शान्तिमय और समृद्ध जगत् के निर्माण की सुदृढ़ नींव के लिए जो सही आर्थिक नीति और कार्यक्रम आवश्यक है उसको तय करने के लिए सांख्यिकी-क्षेत्र में जो नये विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं, उनका विकास इस सम्मेलन के प्रयासों के फलस्वरूप होगा।

भारत सरकार सांख्यिकी तरीकों के विकास में बहुत दिलचस्पी रखती है और पिछले दिनों में उसने देश में सुसज्जित संस्थाओं की स्थापना को बहुत प्रोत्साहन प्रदान किया है। वह इस बात को जानती है कि वर्तमान युग के आर्थिक और सामाजिक

१. भाषण : अन्तर्राष्ट्रीय सांख्यिकी प्रतिष्ठान के २७वें अधिवेशन का उद्घाटन,

जीवन की बढ़ी हुई जटिलताओं के कारण तथा सरकार के कार्यक्षेत्र के बढ़ जाने के कारण सरकार के लिए अब यह सम्भव नहीं है कि वह पर्याप्त और पूरी सांख्यिकी सामग्री के बिना अपनी नीतियों का निर्धारण कर सके। इतिहास में पहली बार भारत एकछत्र राज्य बना है। उसका सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्र १२.२ लाख वर्ग मील अथवा ७८ करोड़ एकड़ है, और पिछली जनगणना के अनुसार उसकी जनसंख्या ३६ करोड़ १० लाख से कुछ ज्यादा है। अतः चीन में छः एकड़, अमरीका में तेरह एकड़ और सोवियट संघ में २८ एकड़ प्रति व्यक्ति के मुकाबले में हमारे यहाँ प्रति व्यक्ति के हिस्से में २.१६ एकड़ भूमि पड़ती है। जो आँकड़े प्राप्त हैं उनसे पता चलता है कि खेती में कुल २६ करोड़ एकड़ भूमि लगी हुई है और हिसाब से तीन-चौथाई एकड़ ही फ़ी आदमी के हिस्से में आती है। हमारे यहाँ प्राकृतिक सम्पत्ति-साधन हैं, किन्तु उनके विकास और काम में लाने का तो प्रश्न ही क्या, अभी तक उन सबकी जाँच तक नहीं की गई है और न उनका पूरा पता चलाया गया है। दूसरे देशों में से अनेकों की अपेक्षा हमारे देशवासियों का जीवन-स्तर बहुत नीचे है। अतः हमें अनेकानेक समस्याओं का मुकाबला करना है और उन्हें सुलभाना है। हमारी सरकार आर्थिक और सामाजिक विकास के कार्यक्रम को हाथ में ले रही है। उसका चित्र पंचवर्षीय योजना है जो कि हमारे सम्पत्ति-साधनों की वास्तविक जानकारी पर आधारित है। योजना को और भी व्यावहारिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हमें राष्ट्रीय जीवन की सब बातों के सम्बन्ध में सही और विश्वसनीय जानकारी प्राप्त हो जिससे कि हम अपनी आवश्यकताओं और सम्पत्ति-साधनों का सही-सही अन्दाजा लगा सकें। सरकार को सही बातें मालूम होनी चाहिए जिससे वह अतीत की तुलना वर्तमान से कर सके और भविष्य की सम्भावनाओं का कुछ अन्दाजा लगा सके। सही बातों की जानकारी न होने पर कोई भी सरकार सफलतापूर्वक उन्नति के लिए पूरी योजना नहीं बना सकती।

यद्यपि वैज्ञानिक और शिल्पिक विकास के कारण पृथ्वी के सुदूर भाग एक-दूसरे के बहुत निकट हो गये हैं, तथापि जगत् की सही बातों के बारे में अभी लोगों में जानकारी की बहुत कमी है। अनेक देशों के सम्बन्ध में सही जानकारी का न होना ही अन्तर्राष्ट्रीय मेल के बढ़ने में मुख्य रुकावट है। यदि हमें ऐसे उदारचित्त विश्व-समाज का निर्माण करना है, जिसमें एक-दूसरे की समस्याओं को समझकर और उनकी महत्ता को पहचानकर समस्त मानव-जाति के लाभ के लिए लोग सम्मिलित प्रयास करें, तो यह आवश्यक है कि उनके पास निष्पक्षता से एकत्रित और सही आँकड़े हों तथा विचारों के स्वतन्त्रतापूर्वक विनिमय करने की पूरी सुविधा हो।

यह विशेष महत्त्व की बात है कि अन्तर्राष्ट्रीय सांख्यिकी प्रतिष्ठान का यह

अधिवेशन एशियाई देश में हो रहा है। जैसा आप जानते हैं एशिया के देशों में विकास और नीति का निर्धारण करने में सांख्यिकी का वैसा प्रयोग नहीं किया गया है जैसा कि संसार के अन्य भागों में हुआ है। किन्तु एशिया के सब देशों में आर्थिक विकास के लिए बनाई गई हाल की योजनाओं को यदि हम ध्यान में रखें तो यह प्रकट है कि सही और विश्वसनीय सांख्यिकी सामग्री को इकट्ठा करना बहुत महत्त्व की बात हो गई है। मुझे आशा है कि एशियाई देश में इस सम्मेलन की बैठक होने का परिणाम यह होगा कि यहाँ ऐसी सुसंगठित सांख्यिकी व्यवस्था का विकास हो जायगा जो एशिया और समस्त पृथ्वी भर के लोगों के आर्थिक और सामाजिक विकास का सुदृढ़ आधार निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सके।

जब भारत सरकार ने इस सम्मेलन के लिए निमन्त्रण दिया था तब हमारे प्रधान मन्त्री ने यह कहा था कि सांख्यिकी के और अधिक अध्ययन तथा प्रशासन और उद्योग-धन्धों में सांख्यिकी रीतियों का और अधिक प्रयोग करने और उनको प्रोत्साहन देने में हमें बड़ी गहरी दिलचस्पी है। अन्तर्राष्ट्रीय सांख्यिकी प्रतिष्ठान के अधिवेशन के यहाँ होने से इन आगे के अध्ययनों को आवश्यक प्रोत्साहन मिलेगा तथा अनेक देशों के अनेक ख्यातनामा सांख्यिकों की उपस्थिति से हमें न केवल बड़ी प्रसन्नता होगी, वरन् हमें काफ़ी लाभ भी होगा। अतः हमें आशा है कि आप लोगों के विचार-विमर्श से, और जो सम्पर्क हमारे सांख्यिक और विशेषज्ञ आज स्थापित कर रहे हैं उससे, संसार भर के लाभ के लिए सांख्यिकी विज्ञान की उन्नति के अतिरिक्त हमें अपनी निजी कठिनाइयों के सुलझाने में भी पर्याप्त सहायता मिलेगी।

चतुर्थ खण्ड

प्रकीर्ण

१

आज के विद्यार्थी के अधिकार और कर्तव्य

२

बुनियादी तालीम

३

लोक-विद्यालय : नये दायित्व और नये आदर्श

४

शिक्षा-प्रसार और हिन्दी

५

विद्यार्थी और राजनीति

आज के विद्यार्थी के अधिकार और कर्तव्य'

पहले में आपका इस बात के लिए शुक्रिया अदा करता हूँ कि आपने इतनी मुहब्बत और प्रेम के साथ मेरा स्वागत किया। अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में इस तरह की यूनियन की एक खास जगह है और खास करके इस यूनिवर्सिटी में जिसने इतना काम किया है और जिसने, जैसा आपने कहा, सिर्फ तालीम का ही काम न करके हमारी तहजीब और तमद्दुन में भी इतना हिस्सा लिया है। यहाँ ऐसी यूनियन का होना निहायत जरूरी और लाजिमी है। मुझे बताया गया है कि यह यूनियन किस तरह काम करती रही है और आज भी किस प्रकार काम कर रही है।

आपने यूनिवर्सिटी की जरूरतों को और यूनियन की जरूरतों को बहुत तरह से मेरे सामने रखा है। मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि इस वक़्त हम सबको यह समझ लेना है कि अब कोई यह नहीं कह सकता कि गवर्नमेण्ट उसकी नहीं है और गवर्नमेण्ट उससे अलग कोई चीज़ है। आप जब मुझ से कहते हैं कि गवर्नमेण्ट से यह करा दीजिए, वह करा दीजिए, तो मैं आपसे कहूँगा कि आप ही करा लीजिए, क्योंकि मैं इस बात को मानता हूँ कि अब गवर्नमेण्ट आपकी है और जिस तरह से काम चलाना चाहते हैं, जो काम उससे लेना चाहते हैं, उसको आप उससे ले सकते हैं, करा सकते हैं। अगर सच्ची जम्हूरियत हमारे मुल्क के अन्दर कायम है तो यह हर एक आदमी समझे कि उसको क्या करना है और कैसे चलना है। हमारे संविधान के जो उसूल हैं उन से हर एक आदमी को यह हक़ है कि लोग मिल-जुलकर अच्छे-से-अच्छे आदमी को अपना नुमाइन्दा बनायें जो मुल्क के फ़ायदे की बात सोचें और जिस पर लोगों का भरोसा हो। लोग जैसा चाहेंगे वह जरूर करेंगे, मगर नुमाइन्दे बेहतरीन आदमी ही चुने जाने चाहिए। बेहतरीन आदमी वही समझे जायेंगे जिनके दिल में यह खयाल है कि वे किसी एक खास गिरोह के, किसी खास चुने हुए सूबे के और किसी खास तबक़े के नहीं हैं, बल्कि मुल्क के सब सूबों और सब हिस्सों के नुमाइन्दे हैं। जो सब के फ़ायदे को अपना समझते हैं, वे ही मुल्क के बेहतरीन आदमी हैं। अब जो कुछ हमारे मुल्क का काम बिगड़ेगा या बनेगा, वह हमारे आदमियों से ही बिगड़ेगा और बनेगा। इसमें जितने यूनिवर्सिटी के लोग हैं, उनकी खास मदद की जरूरत है जिससे अच्छे-से-अच्छे

श्रादमी आयें और अच्छे-से-अच्छे काम करें ।

मैं मानता हूँ कि देश में जितनी तालीम चाहिए उतनी आज नहीं हो रही है । मगर जब सब लोगों की स्वाहिश होगी, तभी यह चीज हो सकेगी । हमारे यहाँ के युवकों को समझ लेना चाहिए कि किसी खास मकसद को कैसे पूरा किया जाता है । अब उनका वक़्त आ रहा है । पहले की पीढ़ी के हम लोगों का वक़्त करीब-करीब ख़त्म हो चुका है और अब चलने का वक़्त आ गया है । अब आपके हाथ में सारी बागडोर आने वाली है । आप अपनी जवाबदेही को समझें और उसको पूरा करें । अब तो लोगों को अपने मन के अरमानों को पूरा करने की पूरी सहूलियत है । जम्हूरियत की सबसे बड़ी निशानी यही होती है कि जो नुमाइन्दे होते हैं वे लोगों के नुमाइन्दे होते हैं । अगर लोगों के नुमाइन्दे अच्छे लोग होंगे तो जम्हूरियत अच्छी होगी । अगर मुल्क के लोग अच्छे हों तो नुमाइन्दे अच्छे होते हैं । अगर नुमाइन्दे बुरे होते हैं तो मुल्क के लोग अच्छे नहीं कहे जा सकते । मैं तो यही कहूँगा कि हम में से हरएक को यह सोचना चाहिए कि हरएक श्रादमी को हम ऐसा सुधारें और ऐसा बनायें कि वह अच्छे से अच्छा श्रादमी हो सके, सच्ची ख़िदमत करने के लिए तैयार हो, अपने को हमेशा कुर्बान करने के लिए तैयार हो और दूसरों की ख़िदमत करने के लिए तैयार रहे । अगर इस तरह के लोग मुल्क में हो जायेंगे तो किसी किस्म की दिक्कत नहीं रह जायगी और कोई मुसीबत नहीं रह जायगी । लेकिन हमारे मुल्क की यह बद्किस्मती रही है और आज से नहीं बहुत ज़माने से रही है कि हम एक दूसरे पर अविश्वास करते रहे, दूसरों की चीजों को हड़पने की कोशिश करते रहे और अपने स्वार्थ के लिए मुल्क के या और लोगों के बड़े कामों को नाचीज़ समझते रहे । यही वजह है कि हमें दूसरों की गुलामी करनी पड़ी । इंग्लैंड की हिस्टरी आप जानते हैं । आप यह भी जानते हैं कि किस तरह से अंगरेज़ यहाँ आये, किस तरह उन्होंने यहाँ अपनी सल्तनत क़ायम की और कितने दिनों तक शान से उन्होंने यहाँ राज्य किया । इन दोनों तवारीख़ों का मुक़ाबला करके हम फ़र्क देख सकते हैं । आपको ऐसा कोई अंगरेज़ नहीं मिलेगा जो गवर्नर जनरल की हैसियत से आया हो और जिसने इंग्लैंड के हित को छोड़कर अपने लिए राज्य क़ायम करने की कोशिश की हो । लेकिन हमारा इतिहास यही है कि यदि किसी को किसी सूबे में भेजा गया तो उसने वहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य क़ायम कर लिया । यह कमी इम मुल्क की तारीख़ में हम देखते हैं, पर अब ज़रूरत इस चीज़ की है कि हम मुल्क के हित को सब से ऊपर रखें ।

आज दुनिया छोटी हो गई है । इसलिए आज कहीं आने-जाने में दिक्कत नहीं रही । आप आज बात-की-बात में कहीं भी जा सकते हैं और कहीं की भी ख़बर ले सकते हैं । ऐसी हालत में यदि छोटे-छोटे राज्य कहीं क़ायम भी किये जायें तो ज़िन्दा

नहीं रह सकते। अब तो सारे मुल्क को हम एक बनाये रख सकें तभी उसके लिए हम दुनिया में कोई जगह बना सकते हैं। अगर छोटे-छोटे टुकड़ों को लेकर हम कोशिश करेंगे तो हम नीचे चले आयेंगे। इसलिए हम में से हरएक को यह इरादा कर लेना चाहिए और पक्का इरादा करना चाहिए कि वह सब लोगों के साथ मिलकर इस लगेन से मुल्क की तरक्की में लगे जायगा कि दुनिया के सामने यह कह सके कि हिन्दुस्तान एक बड़ा मुल्क है।

आप सबको चाहिए कि अपने जी में कोई शक व शुबहा न रखें। जब तक आप खुद ही अपने हक को छोड़ देने के लिए तैयार न हों, तब तक आपका हक कोई नहीं छीन सकेगा। अगर आप अपने हक पर कायम रहेंगे और दूसरों के हक को लेना नहीं चाहेंगे तो आपका भी हक कोई नहीं छीन सकेगा। यह जरूरी है कि हम में हरएक आदमी अपना हक समझे और अपना फ़र्ज भी समझे, क्योंकि बिना फ़र्ज के हक नहीं होता। मैं चाहता हूँ कि आप इस बात को समझें और अपना काम करते जायें।

बुनियादी तालीम'

बहुत दिनों के बाद आज विद्यापीठ में आ सका, इसकी मुझे बड़ी खुशी है। अहमदाबाद आकर विद्यापीठ में बिना आये और बिना आप लोगों से भेंट किये चला जाना भी एक ऐसा काम होता जिसको सहन करना आसान नहीं होता। इसलिए यह तो एक प्रकार से निश्चित ही था कि किसी-न-किसी समय यहाँ आऊँगा जिससे आप सभी बहनों और भाइयों से भेंट हो सके। आपने यह सच कहा है कि विद्यापीठ और राष्ट्रीय शिक्षा के साथ मेरा सम्बन्ध तभी से है जब से यह काम पूज्य बापू ने शुरू किया था। जो कुछ मुझ से थोड़ा-बहुत अपने प्रान्त के अन्दर हो सका, मने करने की कोशिश की लेकिन वातावरण अनुकूल नहीं रहा। आहिस्ता-आहिस्ता काम ढीला पड़ गया और उसका जो रूप पहले था वह बदल गया। मगर आपने इसे अभी तक क्लायम रखा है और उत्साह के साथ चलते रहे हैं, इसके लिए मैं आप सबको बधाई देता हूँ।

मेरा विश्वास है कि अब शिक्षा-व्यवस्था में सुधार होना चाहिए। लेकिन कोई गवर्नमेण्ट हो—वह कोई नया कदम नहीं उठाता, क्योंकि बहुत सी बातों पर विचार करना पड़ता है। केवल प्रयोग करने के लिए वह किसी काम पर न तो पैसा खर्च करना चाहती है और न उसमें अपने आदमियों को लगाना चाहती है। प्रयोग का काम तो इस प्रकार की गैर-सरकारी संस्थाएँ ही कर सकती हैं। यदि राष्ट्रीय विद्यापीठ ऐसे प्रयोग करता रहे और यदि उनमें उसको कुछ सफलता मिले और किसी-न-किसी समय वह मिलेगी ही, और वह ऐसी सफलता हो जिससे यह स्पष्ट हो कि उस प्रयोग को राष्ट्रीय पैमाने पर करने से देश का हित होगा तो सरकार उसे स्वीकार करेगी, क्योंकि आजकल तो सरकार अपनी है और जनता की इच्छा के अनुकूल चलती है। जिस समय असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ था उस समय महात्मा जी ने राष्ट्रीय शिक्षा की बात उठाई थी। उनका विचार था कि सबसे पहले बुनियादी तालीम का प्रचार होना चाहिए। उनको जब समय मिला तो उसे कार्यरूप देकर उन्होंने उसे चलाना भी आरम्भ कर दिया और कुछ दिनों के बाद जब १९३७-३८ में कांग्रेस के लोग मन्त्री बने तो उन्होंने नई तालीम की योजना पर बहुत जोर दिया। उन्होंने

यहाँ तक कहा कि इसी के द्वारा सारे देश की शकल बदली जाय । यह आपने अच्छा किया कि इस विद्यापीठ में नयी तालीम की व्यवस्था के अनुकूल आप काम चला रहे हैं ।

मेरा विश्वास है कि बुनियादी तालीम एक ऐसी चाज़ है कि इसके जरिये देश तरक्की करेगा और शिक्षा का प्रचार होगा । इसमें सन्देह नहीं कि बुनियादी तालीम के जरिये शिक्षा का प्रचार बहुत बढ़ जायगा । इसके साथ ही इसके द्वारा एक ऐसा वर्ग तैयार होगा और ऐसे नागरिक तैयार होंगे जो आजकल के नागरिकों से बहुत बातों में अच्छे निकलेगे । बौद्धिक शिक्षा ही नहीं, उसके साथ-साथ विद्यार्थियों को जो पुस्तकीय ज्ञान मिलेगा वह भी किसी काम के जरिये से ही मिलेगा । उसे वे कुछ करके ही सीखेंगे, केवल पढ़कर और स्मरण-शक्ति द्वारा नहीं सीखेंगे । जो चीज़ अनुभव से सीखी जाती है उसका असर मनुष्य के हृदय पर बराबर बना रहता है । यही इस शिक्षा का महत्त्व है और इसी वजह से ऐसा कहा जाता है कि इसके प्रचार से देश की हालत बदल जायगी । आप सब जानते हैं कि राजनैतिक स्वराज्य से महात्मा जी को सन्तोष न होता था । वह अंगरेजों को यहाँ से इसलिए नहीं हटाना चाहते थे कि अंगरेजों की जगह पर देश के भाइयों को बैठाये और फिर यह लोग अंगरेजों की तरह ही काम करें और उन्हीं का सिलसिला जारी रखें । वह सारे समाज की रचना बदलना चाहते थे । इस प्रकार की शिक्षा से बच्चों को तैयार करके ही समाज की रचना बदली जा सकती है । जैसा परिवर्तन गान्धी जी करना चाहते थे । वैसे परिवर्तन आप नयी पद्धति से शिक्षा देकर ही कर सकेंगे । वह केवल इस देश में ही नहीं, वरन् ऐसे सभी देशों में, जहाँ यह सम्भव हो सके, नयी रचना करना चाहते थे और समाज के रूप को बदलना चाहते थे । समाज बच्चों से ही बदलता है, क्योंकि बच्चों को बचपन से जो कुछ सिखाया जाता है उसका स्मरण उन्हें सारे जीवन बना रहता है । आज देश का जैसा जीवन है, समाज की जो शकल है, वह उसी शिक्षा के कारण है जो हमें अब तक दी गई है । चाहे अपनी पुस्तकों की शिक्षा का प्रयोग लोग न भी करें, पर घर में मिली शिक्षा से लोग वे बातें सीख लेते हैं जिनके सहारे समाज का काम चलता है । इसलिए समाज के गठन को बदलने का यह सर्वाधिक प्रभावशाली तरीका है कि हम बच्चों को उस विचारधारा से प्लावित करें जिसकी प्रधानता हम चाहते हैं और जिससे उनके बड़े होने पर समाज का गठन खुद-ब-खुद बदल जाय । इसलिए भी बुनियादी तालीम पर बापू इतना जोर देते थे ।

आप यह न समझें कि बुनियादी तालीम का जितना विकास हो सकता है और उसका जो सुदृढ़ रूप हो सकता है, वह पूर्णतया बन चुका है । नहीं, अभी हमें इस दिशा में काफ़ी काम करना है । काम करते-करते नयी रोशनी मिलेगी, नयी बातें

आयेंगी। जिस तरह बापू की ज़िन्दगी एक प्रकार से प्रयोग की ज़िन्दगी थी उसी तरह से बुनियादी तालीम की व्यवस्था में भी आप प्रयोग करते जायें। उसमें जो नयी बातें ज्ञात होंगी उनको देश क़बूल करेगा। ऐसे प्रयोगों के लिए इस प्रकार के शिक्षालयों की पहले से और भी ज्यादा आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि आप जो प्रयोग करें और उससे जो फल निकले, उसे आप गवर्नमेण्ट से मंज़ूर करवायें। अगर गवर्नमेण्ट को यह लगेगा कि उससे जनता का फ़ायदा होने वाला है तो वह उसे मंज़ूर करेगी। स्पष्ट है कि इस दिशा में पहला क़दम आपके जैसी संस्था ही उठा सकती है। इसलिए मैं यह नहीं मानता कि विद्यापीठों की ज़रूरत नहीं रही।

गुरुकुलों के सम्बन्ध में मैंने कहा था कि गवर्नमेण्ट के साथ उनका अब तक जो सम्बन्ध था वह आज की बदली हुई परिस्थितियों में बदल जाना चाहिए। गवर्नमेण्ट के साथ उस समय वे अपना सम्बन्ध रखना ही न चाहते थे। अगर वे गवर्नमेण्ट से अपना सम्बन्ध स्थापित करना भी चाहते तो सम्भवतः वह उसे मंज़ूर नहीं करती। पर अब स्थिति दूसरी है। अब तो गवर्नमेण्ट से उनका सीधा सम्बन्ध भी हो सकता है और उन्हें अपने काम में गवर्नमेण्ट से प्रोत्साहन भी मिल सकता है। गुरुकुल के सम्बन्ध में मैंने सुना था कि आज तक उन्होंने गवर्नमेण्ट से न कभी कुछ माँगा और न गवर्नमेण्ट ने कभी कुछ दिया। उत्तर प्रदेश के गवर्नर मिस्टर हेलेट ने एक बार गुरुकुल को देखा था और कुछ देना भी चाहा था, मगर गुरुकुल ने उसे स्वीकार नहीं किया था। मगर जब मैं गया और उनकी तरफ़ से पूछकर मैंने गवर्नमेण्ट से सहायता दिलवाई तो उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया, क्योंकि हमारी गवर्नमेण्ट पहले की-सी गवर्नमेण्ट नहीं है। इसलिए मैं समझता हूँ कि इसी तरह गवर्नमेण्ट से विद्यापीठ का सम्बन्ध भी अब दूसरे ढंग का होना चाहिए। पर साथ ही मैं यह भी मानता हूँ कि आज भी विद्यापीठ को सर्वथा गवर्नमेण्ट पर निर्भर नहीं करना चाहिए। हमारी प्रवृत्ति ऐसी हो गई है कि हम सब चीज़ों के लिए गवर्नमेण्ट की तरफ़ देखते हैं। सम्भवतः लोग सोचते हैं कि चूँकि अब स्वराज्य हो गया है इसलिए अब तो यह सरकार का काम है कि सबके लिए कुछ करे और लोगों के ख़ुद कुछ करने की ज़रूरत अब नहीं रह गई है। पर यह बात ठीक नहीं है। अब भी इस बात की ज़रूरत है। हम सब चीज़ों के लिए भरोसा करते रहेंगे तो हम गवर्नमेण्ट के श्रौत दास हो जायेंगे और गवर्नमेण्ट को अपने मातहत नहीं रख सकेंगे। लेकिन अगर हम स्वतन्त्र रहेंगे तो गवर्नमेण्ट पर अपना क़ाबू रख सकेंगे और गवर्नमेण्ट से अपने मन के मुआफ़िक़ काम करा सकेंगे। हाँ, अगर गवर्नमेण्ट से सहायता मिले और गवर्नमेण्ट सहायता देना चाहे तो उसे लेने में उज्र नहीं होना चाहिए। पर साथ-साथ अपने पैरों पर हमेशा खड़ा रहना चाहिए जिससे आपकी स्वतन्त्रता बनी रहे

और जैसा आप चाहें काम कर सकें और अपने बल से गवर्नमेण्ट से करा सकें। मैं आशा करता हूँ कि यह संस्था, जो ऐसे शुद्ध और पवित्र हाथों से स्थापित की गई थी और जिसने इतने दिनों तक देश की सेवा की है, बनी रहेगी और आप इसे चलाते रहेंगे और यह दिन-दिन उन्नति कर देश का कल्याण करती रहेगी।

लोक-विद्यालय : नये दायित्व और नये आदर्श'

इतने सजग नवयुवकों में अपने को पाकर आज मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । यह स्फूर्तिदायक अवसर मुझे बहुधा प्राप्त नहीं होता कि मैं उन लोगों के सम्पर्क में आ सकूँ जिन पर भविष्य में हमारे देश को ज्योतिर्मय करने का भार होगा । स्वभावतः भविष्य के इन महावीरों से ऐसी कोई भेंट मुझे ऐसी लगती है मानो राजमन्दिर के प्रकोष्ठों में बाहर से स्वच्छ निर्मल वायु का झोंका आ गया हो । ये मुझे मूर्तिमान पुनर्जीवन के समान लगते हैं । उस अतीत क. पुनर्जीवन—जब मेरे लिए यह जगत् इतना नया, इतना ताजा और इतना आश्चर्यमय था—किन्तु इससे भी कहीं अधिक थे मेरे लिए भवितव्यता के अवतार हैं । इनके देदीप्यमान मुखों पर मुझे अपने देश और संसार का भावी स्वरूप प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ता है । इनका यौवन मेरे लिए अमर आश्वासन है कि उस समय भी जब हम, जिनका शास्त्रोक्त आयु-काल अब समाप्त हो रहा है, अपने विधाता के समक्ष अपने जीवन का हिसाब देने के लिए चले गये होंगे, तब वह आदर्श जिससे हमारा जीवन सार्थक और सफल बना था, सबके लिए सुरक्षित रहेगा ।

चूँकि मेरी ऐसी भावना है, इसलिए मेरी यह आकांक्षा है कि इन लोगों को अपने महान् और गरिमामय काम के लिए ऐसी संस्थाओं में शिक्षा मिलनी चाहिए जिन्हें मानव-समाज में युवकों के स्थान का सही-सही ज्ञान हो । इस संस्था के संस्थापक स्व० श्री एस० आर० दास ने अपने समय की परिस्थितियों में यह महसूस किया था कि भारत को अपने नवयुवकों की समुचित शिक्षा के लिए लोक-विद्यालयों की आवश्यकता है और इसी विश्वास के आधार पर उन्होंने इस संस्था की योजना तैयार की थी । उस दिन से संसार में और हमारे देश में ज्ञान और संस्थाओं के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं । अतः यह स्वाभाविक ही है कि परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों के दबाव से इस बात की बड़े जोर से माँग हो कि हमारी वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था और पद्धतियों में परिवर्तन किया जाय । आपने इस बात का निर्देश किया है कि आजकल लोक-विद्यालयों की संस्था के विरुद्ध इंग्लैंड में पर्याप्त आलोचना

१. भाषण : दून स्कूल का संस्थापक दिवस, देहरादून, २२ अक्तूबर,

हो रही है। मेरा विचार है कि यदि समाज में लोक-विद्यालय का प्रभावशाली और कल्याणप्रद काम करना है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह आलोचकों के दृष्टिकोण को यथावत् समझे और अपने संगठन में जो दोष मिलें उन्हें दूर करे। लोक-विद्यालय के विरुद्ध दूसरे देशों में किसी प्रकार की भी आलोचना क्यों न हो, हमारे देश में तो एक स्वयं-विदित आलोचना यह है कि यह पृथक्त्व की भावना को जन्म देता है। अर्थात् अपने विद्यार्थियों में यह बड़प्पन की वृत्ति पैदा करता है। हमारे देश के साधारण जन जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं इसे उसके अनुकूल बनाकर यह दोष दूर किया जा सकता है। यह केवल सम्भव ही नहीं, वरन् लोक-विद्यालयों का आधारभूत तत्त्व भी है जिस पर वे ठहरे हुए हैं। यदि मैंने इसके स्वरूप को ठीक-ठीक समझा है तो मैं कह सकता हूँ कि लोक-विद्यालय का एक प्रमुख तत्त्व—वह तत्त्व जो इसे अन्य सब शिक्षण-संस्थाओं से पृथक् कर देता है—इसका सामूहिक जीवन है। साधारणतया शिक्षा-संस्थाओं को ऐसी पठन-पाठन की संस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं समझा जाता जिनमें बालकों को लिखने-पढ़ने और हिसाब करने की शिक्षा दी जाती है, किन्तु जिनका उनके पूर्ण व्यक्तित्व से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। इसके विपरीत लोक-विद्यालय के मूल में यह विचार है कि जीवन के कुछ विशिष्ट पहलुओं के सम्बन्ध में जानकारी के कुछ टुकड़ों को एकत्रित कर लेना ही शिक्षा नहीं है, वरन् उसका अर्थ यही है कि बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को ऐसा ढाला जाय कि उसे उच्च प्रकार के आचरण करने की सहज आदत पड़ जाय, कला और विज्ञान की महान् विभूतियों से परिचित होने के कारण उसकी बुद्धि समृद्ध हो जाय, प्रकोष्ठों के व्याख्यान-गृह तथा क्रीड़ा-क्षेत्र में मन और स्नायु के संघर्ष से उसकी प्रज्ञा प्रखर हो जाय, कठोर व्यायाम द्वारा वह बलवान् शरीर बना सके तथा अपने ही जैसे मानवों के साथ रहकर, कार्य करके और खेलकर आपस में एकता की भावना पैदा कर सके। दूसरे शब्दों में लोक-विद्यालय इस विचार पर खड़ा हुआ है कि संस्कृति का सबसे प्रबल साधन और स्रोत इतनी मात्रा में पुस्तकें नहीं हैं जितनी में कि समुचित रूप से संगठित जीवन। मेरा विचार है कि इसकी यह प्रतिज्ञा 'एक सामूहिक जीवन ही सर्वोत्तम शिक्षक है' अत्यन्त मूल्यवान् विचार है। यह ऐसा विचार है जो मानव-जाति की भावी संस्कृति के क्षेत्र में अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण काम करने वाला है। अतः मैं यह जानकर प्रसन्न हूँ कि आपकी संस्था के सदस्यगणों ने साक्षरता, ग्राम-सेवा और स्वयंसेवकत्व की भावना के प्रसार के लिए कई संस्थाओं की स्थापना की है। किन्तु जहाँ ये सब क्रम में ठीक दिशा में उठाये गये हैं, वहाँ मैं यह भी समझता हूँ कि देश में एक आदर्श लोक-विद्यालय बनाने के लिए कुछ और बातें करने की भी आवश्यकता है। मेरा विचार है कि यह परिवर्तन इस बात में है कि यह संस्था देश

के लोक-जीवन से पूरी तरह एकीकृत हो जाय । इस एकीकरण का अर्थ यह है कि यहाँ शिक्षा का माध्यम इस देश की जनता की भाषा अर्थात् हिन्दी ही हो । मैं मानता हूँ कि आजकल ऐसा करने में कुछ महत्त्वपूर्ण कठिनाइयाँ हैं, पर इन कठिनाइयों पर शीघ्रातिशीघ्र विजय पाने के लिए इस संस्था को हर सम्भव प्रयास करना चाहिए । कम-से-कम यहाँ के शिक्षकों और विद्यार्थियों को इस बात का प्रयास तो करना ही चाहिए कि जीवन के जितने क्षेत्रों में वे हिन्दी का प्रयोग कर सकते हैं उसका प्रयोग करें । मेरे इस कथन का यह आशय आप न लें कि मैं चाहता हूँ कि अंगरेजी को पूर्णतया हटा दिया जाय । अंगरेजी के विरुद्ध मेरा लेशमात्र विद्वेष नहीं है । मैं तो यह समझता हूँ कि इसके ज्ञान से हमें अनेक देशों और जातियों के विचारों से अपने को परिचित करने में सहायता मिलती है । यह कोई छोटी बात नहीं है । इसके अतिरिक्त अंगरेजी हमारे और अनेक अन्य देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य और आदान-प्रदान की भाषा बनी रहेगी । अतः यह स्पष्ट है कि अंगरेजी का ज्ञान पूर्णतया आवश्यक है और हमारे बालक उसको सीखते हैं और सीखते रहेंगे । किन्तु मेरा यह आशय अवश्य है कि यह विचार कि अंगरेजी सत्ता और पद प्राप्त करने का विशिष्ट साधन है, अब हट जाना चाहिए । इसे सम्मान और संस्कृति का एकमात्र प्रतीक न माना जाना चाहिए । इसके विपरीत इस संस्था के विद्यार्थियों को इस विश्वास के साथ पढ़ना चाहिए कि वे अपने जीवन के कार्य को पूरा करने में तभी समर्थ होंगे जब वे उस भाषा में पारंगत हों जिसे इस देश के साधारण लोगों की विशाल जनसंख्या बोलती और समझती है । उन्हें अपने देश-भाइयों की वाणी से प्रेम होना चाहिए और उसके प्रति आदर और गौरव की भावना होनी चाहिए । मैं इस बात पर बल देता हूँ, क्योंकि मेरी यह भावना है कि जिस लोकतन्त्रात्मक समाज के निर्माण का हम इस देश में प्रयास करते हैं, उसको विचार में रखकर यह आवश्यक है कि अंगरेजी-शिक्षित व्यक्तियों और देश के अन्य लोगों के बीच जो मानसिक खाई पैदा हो गई है, वह पूरी तरह दूर हो जाय ।

अभी हाल तक उन लोगों के मन में जो अंगरेजी के माध्यम द्वारा शिक्षा प्राप्त करते रहे हैं अनजाने ही यह मान्यता रही है कि उनका शिक्षा प्राप्त करने का मुख्य ध्येय यह है कि अंगरेजी रहन-सहन से वे अपने को यथासंभव एकीकृत कर लें । इस भावना के कारण वे भारतीय जनता से पृथक् हो गये हैं । उनका वेष, उनकी भाषा, उनका आचार, उनके सामाजिक आदर्श, उनकी रूचि और हौबी और उनके आमोद-प्रमोद की रीति, सभी जनता की इन सब बातों से सर्वथा भिन्न और विदेशीय हैं । वे अपनी जन्मभूमि में ही एक नया वर्ग या जाति बन गये हैं । मेरा विचार है कि यह बहुत ही हानिकारक बात हुई है और अब समय आ गया है कि इसको खत्म किया

जाय। हमारे देश के सामने अनेक समस्याएँ सुलभाने के लिए हैं। हम उन्हें तभी सफलता से सुलभा सकते हैं जब शिक्षित और अशिक्षित दोनों के हृदय में एक ही-सी धड़कन होती हो। यदि हमारा राष्ट्रीय व्यक्तित्व इस प्रकार निश्चल बना रहा तो हमारा बचना संभव नहीं है। यही कारण है कि मैं यह महसूस करता हूँ कि इस संस्था में और देश की इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं में शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण है उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है।

जनता की भाषा पर मेरा इतना आग्रह केवल उसके अपने लिए ही नहीं है अर्थात् वह इसलिए नहीं है कि मैं भाषा की दृष्टि से उसे अंगरेजी या किसी अन्य भाषा से उत्तम समझता हूँ। मेरा आग्रह तो इस विश्वास से पैदा हुआ है कि अपने देश में, लोकतन्त्रात्मक समाज तथा सम्पन्न कृषि और उद्योग के निर्माण में, जनता की शक्ति को लगाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि बुद्धिजीवियों और साधारण जनों के आदर्शों और विचारों में कोई गहरी खाई न हो। इस कारण मुझे ऐसा लगता है कि लोक-विद्यालयों को, हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेशों में हिन्दी को तथा अहिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेशों में वहाँ की जनता की भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में केवल अपनाना ही नहीं चाहिए, वरन् उन्हें भारत के इतिहास, साहित्य और सामाजिक ढाँचे को भी उससे कहीं अधिक महत्त्व देना चाहिए जितना कि वे आजकल उन्हें देते हैं। कम-से-कम पाठशालाओं के बालकों के लिए तो इस नीति को अपनाना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसा करने पर ही वे भारतीय जनता के अखण्ड अंग बन सकेंगे। आप इस बात का प्रयास करें कि आपके बालक वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, टैगोर और गान्धी की रचनाओं के अमृत का पान करें। मैं यह बात फिर दुहरा देना चाहता हूँ कि किसी संकीर्ण राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर मैं इस परिवर्तन का पक्ष नहीं ले रहा हूँ। मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ कि मुझे विश्वास है कि इन विभूतियों में से जिनका अभी-अभी मैंने नाम लिया है प्रत्येक ने निस्पृह किन्तु सृजनात्मक सेवा के उस महान् आदर्श का गान गाया है जिसकी आज मनुष्य-जाति को सबसे अधिक आवश्यकता है। मेरा विश्वास है कि ज्ञान की जिज्ञासा के पीछे चलते-चलते मनुष्य आज ऐसी मंजिल पर पहुँच गया है जहाँ उससे बचने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसके सारे कार्य, चाहे वैयक्तिक हों और चाहे सामाजिक, इस सेवा के आदर्श से प्रेरित हों। यदि वह अपने ही स्वार्थ और सत्ता-साधन की भावना से प्रेरित रहा तो उसके हाथों में जो शक्ति है उसकी बहुलता ही आज उसके लिए भारी संकट बन जायगी। उन युगों में जब उसकी शक्ति सीमित थी इस प्रकार की स्वार्थ-साधना से समस्त मानव-जाति के विनाश का खतरा नहीं था, किन्तु आज यह संकट सिर पर मंडरा रहा है और अत्यन्त निकट है। कोई भी व्यक्ति, कोई भी समूह और कोई भी

राष्ट्र संकट को बुलाये बिना इस शक्ति का प्रयोग अपने स्वार्थ-साधन के लिए करने की आशा नहीं कर सकता। यह निश्चित है कि उसका अपना और अन्य लोगों का इस प्रयोग के कारण सर्वनाश हो जायगा। अतः अब समय आ गया है कि हम आत्म-दम्भ और आत्म-स्वार्थ के स्थान पर अन्य आदर्शों को अधिक महत्त्व देना आरम्भ कर दें। आज हमें सब लोगों में विनम्रता और त्याग तथा सेवा और सहानुभूति की भावना की आवश्यकता है। अब समय है कि ये आदर्श हमारे जीवन के स्रोत बन जायें और यह तभी होगा जब हमारे बालक देश के साहित्य से आध्यात्मिक चेतना प्राप्त करेंगे। मैं यह और कह देना चाहता हूँ कि जनता की भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने में चाहे कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न हों, साहित्यिक अध्ययन के पाठ्यक्रम में भारतीय साहित्य को सम्मिलित करने में तो अविलम्ब कोई कठिनाई है ही नहीं। अतः मैं समझता हूँ कि यह परिवर्तन तो करना ही है और तुरन्त करना है।

मैं यह जानता हूँ कि साहित्य के थोड़े अध्ययन से ही बालकों में इन आदर्शों के अनुकूल जीवन व्यतीत करने की आदत नहीं पड़ जायगी। वे साहित्य के सौन्दर्य को देखेंगे, किन्तु केवल उससे ही उनके मन में यह विश्वास पैदा नहीं हो जायगा कि वह सौन्दर्य उनके अपने जीवन का सौन्दर्य हो सकता है। यह विश्वास उनमें तभी पैदा होगा जब वे पाठशाला के, छात्रावास के, क्रीड़ा-क्षेत्र के और अन्य क्षेत्रों के जीवन में इस विश्वास के अनुकूल आचरण करने लगेंगे। उन सबको पाठशाला में और अड़ौस-पड़ौस में किसी-न-किसी प्रकार के सृजनात्मक कार्य को अपने हाथ में लेना चाहिए। अतः मुझे इस बात की हार्दिक प्रसन्नता है कि इस संस्था के विद्यार्थियों ने ग्राम-सेवा और साक्षरता-प्रसार का कार्य हाथ में लिया है। मेरा विचार है कि यह कार्य इस संस्था का अविच्छिन्न अंग होना चाहिए। तभी यह संस्था ऐसी मानव-धारा का स्रोत बन सकेगी जो भविष्य में सर्वदा बहती रहे।

शिक्षा-प्रसार और हिन्दी

हिन्दी के सम्बन्ध में मेरा विचार लोगों को बहुत कुछ मालूम है, क्योंकि अकसर जब कभी इसके लिए अवसर मिलता है तभी मैं अपने विचारों को प्रकट करता आया हूँ। मैं कोई साहित्यिक व्यक्ति नहीं हूँ और न मैंने साहित्य का अध्ययन किया है। इसलिए मैं साहित्य के सम्बन्ध में कुछ कहना अपने लिए अनधिकार चेष्टा मानता हूँ। मेरी योग्यता के सम्बन्ध में चाहे लोग अपनी ओर से कुछ भी कहें और नन्ददुलारे जी ने भी, जिनकी गिनती हमारे देश के विद्वानों में है, कुछ कहा है पर मैं अपने को वंसा नहीं मानता। किन्तु साथ ही मैं इतना कहना उचित समझता हूँ कि आज साहित्य में जो लिखा जाता है और उसका बहाव जिस तरह चल रहा है उसकी समीक्षा करते रहना हिन्दी के विद्वानों का काम है।

मैं हिन्दी को हमेशा एक दूसरे रूप में देखा करता हूँ और हम से हिन्दी की जो कुछ सेवा होती है वह उसी प्रकार होती है। मैं बहुत दिनों से हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखता रहा हूँ और देखना चाहता हूँ। इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। एक तो भाषा ऐसी होनी चाहिए जो समृद्ध हो और जिसमें हम प्रत्येक विषय को आसानी से व्यक्त कर सकें। दूसरी चीज यह है कि इस भाषा का साहित्य भी ऐसा सुन्दर और प्रचुर हो। क सभी लोग अपनी इच्छा से इसकी तरफ़ भुक् जायँ और इस का अध्ययन अपने लिए आवश्यक समझें।

दूसरा काम जो साहित्य के जुटाने का है वह साहित्य के निर्माण का है। मुझे साहित्य पढ़ने का समय नहीं मिलता, लेकिन जहाँ तक मैं कह सकता हूँ, पिछले ५० वर्षों में, जब से मेरा थोड़ा-बहुत हिन्दी से सम्बन्ध रहा है, हिन्दी के साहित्य-संसार में बहुत बड़ी प्रगति हुई है और जो लोग इन ५० वर्षों में हिन्दी के इतिहास को देखेंगे उनको इस बात का सन्तोष होगा कि इन ५० वर्षों में हिन्दी कहीं-से-कहीं निकल गई है और उसका भण्डार आज बहुत विषयों में बहुत बातों में प्रचुर हो गया है मगर तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य का भण्डार कभी पूरा हो जायगा। साहित्य एक ऐसा भण्डार है जो कभी पूरा नहीं होता। वह किसी भी देश में, किसी

भी भाषा में पूरा नहीं हुआ और किसी भी जाति के लोगों ने उसे पूरा नहीं किया। वह मानव-जाति के साथ-साथ प्रगति करता जाता है और जैसे-जैसे मानव-जाति आगे बढ़ती जाती है, साहित्य भी उसके साथ आगे बढ़ता है। वह तभी पूरा होगा जब मानव-जाति की प्रगति ऐसे स्थान पर पहुँच जायगी जहाँ से वह आगे बढ़ने वाली न हो। यह कभी होने वाला नहीं है, क्योंकि मानव-जाति सदैव प्रगति करने वाली है। हम उसका रूप बदल सकते हैं, उसका ढंग बदल सकते हैं, और कभी-कभी उसकी दिशा भी बदल सकते हैं मगर साहित्य निरन्तर बढ़ता ही जाता है। जैसे हिमालय से निकलकर गंगा बहते-बहते समुद्र में जा मिलती है और तभी शान्त होती है, वैसे ही साहित्य की भी स्थिति है। जब वह मानव-समाज के समुद्र से एक हो जायगी तभी उसका चरम उत्कर्ष होगा। जैसा मैंने कहा, यह काम साहित्यिकों का है कि साहित्य के काम का लोगों को दिग्दर्शन कराते रहें और उनको मार्ग दिखाते रहें।

हिन्दी भाषा किस तरह से राष्ट्रभाषा बन जाय, यह एक दूसरा विषय है। इसके साथ मेरी खास दिलचस्पी रही है और हिन्दी का प्रचार सारे देश में किस तरह से हो, इसमें थोड़ा-बहुत काम भी मैं करता आया हूँ। मैं आपसे दो शब्द इस सम्बन्ध में कह देना चाहता हूँ। यह हिन्दी बोलने वालों के लिए गौरव की बात है कि उनकी भाषा आज राष्ट्रभाषा के रूप में मान ली गई है और इसे मानकर देश ने उन पर एक भारी जवाबदेही भी लाद दी है। आप जानते हैं कि इस देश में दो प्रकार की मुख्य भाषायें हैं। एक तो वे हैं जो संस्कृत से प्रभावित हुई हैं मगर जिनका जन्म-स्थान कहीं दूसरी जगह पर है अर्थात् जिनका स्रोत कहीं दूसरी जगह से चला है। वे दक्षिण की भाषायें हैं और यह कहना असम्भव है कि वे संस्कृत से उद्भूत हुई हैं। इन दोनों प्रकार की भाषाओं के बोलने वालों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लिया है। हमें अब यह देखना है कि हमारी राष्ट्रभाषा किस तरह इस योग्य बने कि सब सार्वदेशिक काम उस भाषा के जरिये हों। इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी के अलावा जो भाषायें हैं वे किसी प्रकार से तिरस्कृत हों। इसका अर्थ यही है कि सार्वदेशिक काम के लिए हिन्दी मान ली गई है और एक सूबे का दूसरे सूबे के साथ जो कारबार होता है वह हिन्दी के जरिये ही होना चाहिए और होगा। हिन्दुस्तान की गवर्नमेण्ट जो कुछ काम करेगी इसी भाषा के द्वारा करेगी। हमारे संविधान ने इस भाषा को मान लिया है और उसमें यह भी है कि भाषा ऐसी हो जिसको सभी लोग समझ सकें। उसमें योग्यता भी ऐसी होनी चाहिए कि लोग उसमें आधुनिक विचारों को अच्छी तरह से व्यक्त कर सकें। अतः अब हिन्दी वालों पर एक बड़ी जवाबदेही आ गई है। मैं मानता हूँ कि जब हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हो गई है तो उसको ऐसा बनाना चाहिए कि वह किसी भी भाषा के शब्दों को अपने में मिलाने में समर्थ हो। इसलिए मैं जब कभी दूसरी भाषाओं से आये

हुए शब्दों को निकालने की प्रवृत्ति देखता हूँ तो वह मुझे खटकती है। मैं चाहता हूँ कि हिन्दी का शब्द-भण्डार जितना बढ़ाया जा सके, बढ़ाया जाय और उसको बढ़ाने में हम इस प्रकार के संकुचित विचार न रखें कि वे शब्द संस्कृत के हैं या नहीं अथवा प्राचीन हिन्दी के हैं या नहीं, बल्कि हमको यही सोचना चाहिए कि शब्द सुन्दर है या नहीं और हमारे भाव को व्यक्त करता है या नहीं। अगर कर सकता हो तो उसको लेने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए।

मैं देखता हूँ कि जो हिन्दी-भाषी नहीं हैं वे कहीं घबड़ाते हैं और कहीं डरते हैं कि उन पर हिन्दी लाव दी जायगी। मैं चाहता हूँ कि इस भय को उनके दिल से निकाल दिया जाय। इसका रास्ता यही है कि सब मिलकर हिन्दी भाषा को उनकी भाषा भी बनायें जिससे वे खुशी से इसे अपनावें। यह अपनापन तभी हो सकता है जब हम उनसे प्रेम से मिलें, उनसे कुछ लें और कुछ वे हम से लें। इसका रूप ऐसा हो जो न हमारे लिए ही अपरिचित हो और न उनके लिए ही। इसके लिए प्रान्तीय भाषाओं के बहुतेरे प्रयोग हिन्दी में आयेंगे। अगर हम हिन्दी को समृद्ध करना चाहते हैं तो प्रान्तीय भाषाओं की समृद्धि में किसी तरह से बाधा नहीं डालनी चाहिए और उनकी समृद्धि से हिन्दी के लिए भी लाभ उठाना चाहिए। इसलिए हम उनसे जो कुछ ले सकते हैं, उसे लेना चाहिए। मैं तो यहाँ तक जाने के लिए तैयार हूँ कि अगर उन प्रयोगों के कारण हमें व्याकरण में कुछ सुधार भी करना पड़े तो हमें उसके लिए भी तैयार रहना चाहिए, क्योंकि हमें ऐसी भाषा का सृजन करना है जो सारे देश में आसानी से समझी जा सके। हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने के बाद उसमें इस प्रकार का विकास अनिवार्य हो गया है और ऐसा होना ठीक भी है। इसलिए मैं हिन्दी के विद्वानों से कहना चाहता हूँ कि अब वे यह न समझें कि हिन्दी उनकी चीज है और वे जिस तरह चाहेंगे उसको रखेंगे, तोड़ेंगे, मरोड़ेंगे और दूसरों को उसमें कुछ बोलने का अधिकार नहीं देंगे। इस भावना को छोड़ देना चाहिए और जो हिन्दी बोलने वाले नहीं हैं उनसे सहायता लेकर हिन्दी को समृद्ध बनाना चाहिए। उनके लिए यह उचित होगा कि प्रान्तीय भाषाओं की शब्दावली से, उनके प्रयोगों से और उनके अच्छे वाक्यों से हिन्दी भाषा को भूषित करें जिससे यह कहा जा सके कि हिन्दी हमारी ही भाषा नहीं, सारे भारतवर्ष की भाषा है। मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी के विद्वान् हमेशा इस बात पर ध्यान देंगे।

इसके अलावा दूसरा भी काम है। वह है प्रचार का काम। प्रचार का अर्थ केवल भाषण देना नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जो लोग हिन्दी नहीं जानते, हम उनको इस योग्य बना दें कि जिस तरह से हम हिन्दी में अपना कारबार करते हैं, उसी तरह वे भी अगर हिन्दी में काम करना चाहें तो कर सकें और काम को उसी सफलता

से अंजाम दे सकें। इसलिए जो हिन्दी-भाषी हैं, उनकी बड़ी जवाबदेही है। जहाँ-जहाँ हिन्दी सीखने वाले हैं वहाँ-वहाँ हमारे आदमियों को जाना चाहिए और उनको हिन्दी सिखानी चाहिए। यह काम इस तरह से होना चाहिए कि वे यह न समझें कि हम उन पर बोझ लाद रहे हैं, बल्कि सेवा-रूप में उनको इस काम के लिए तैयार होना चाहिए। मुझे याद है कि आज से करीब ३२ वर्ष पहले जब महात्मा जी ने मद्रास में पहले-पहल हिन्दी का काम शुरू किया था तो उत्तर भारत से हिन्दी जानने वालों को उन्होंने वहाँ भेजा था और सत्यदेव जी को प्रचार के लिए वहाँ पहला स्थान मिला था। उन्होंने महात्मा जी के पुत्र श्री देवदास गान्धी के साथ प्रचार का काम शुरू किया था। हमारे लिए यह गौरव की बात है कि इस काम में बिहार का भी हिस्सा कुछ कम नहीं रहा। यहाँ से भी लोग गये और वहाँ काम किया और वह इतना फेला और इस हद तक पहुँच गया कि अब शायद उनको उत्तर भारत के लोगों की जरूरत भी नहीं रही। यह सुनकर शायद आपका मनोरंजन होगा कि मैंने वहाँ कई बार उपाधि-वितरण का काम किया है। वहाँ स्त्री और पुरुष दोनों परीक्षा में सम्मिलित होते हैं और कई बार मैंने पति-पत्नी को एक साथ उपाधि दी है और एक बार तो एक ही साथ तीन पुस्तों को उपाधि देने का मौका मिला है, जिसमें दादी भी, नतिन भी, पतोहू भी, दादा भी, बाप भी और बेटे भी थे। आप इससे जान सकते हैं कि वहाँ लोगों में इस सम्बन्ध में कितना उत्साह है और आज हम कह सकते हैं कि दक्षिण में हिन्दी के प्रचार का जितना काम हो रहा है उतना काम और किसी जगह पर नहीं हो रहा। वहाँ जितने पैसे वे खर्च कर रहे हैं और जितने स्वयंसेवक इस काम में लगे हुए हैं उतने और किसी भी जगह पर नहीं हैं। इस वक्त वे लाखों रुपये इस काम में अपनी ओर से खर्च कर रहे हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दी-भाषी लोगों का यह धर्म है कि जहाँ के लोग हिन्दी सीखना चाहते हैं उनको यह सुविधा दें और उनको अपनी सेवा दें जिससे वे इतनी योग्यता प्राप्त कर सकें कि राष्ट्र का काम हिन्दी में कर सकें। इस बात पर आपको ध्यान देना चाहिए। हिन्दी-प्रचार के काम में त्याग और सेवा-भावना की जरूरत है। मैं आशा करता हूँ कि इस प्रकार कुछ लोग इस काम को अपने जीवन का बड़ा काम समझकर इसमें लग जायेंगे और इसको पूरा करेंगे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और दूसरी संस्थाओं के लोग इस काम में पड़कर इसे जल्द-से-जल्द पूरा करें जिससे फिर किसी को यह शिकायत करने की गुंजाइश न रह जाय कि कोई सिखाने वाला नहीं था इसलिए उसने हिन्दी नहीं सीखी और सार्वदेशिक काम के लिए उसे अंगरेजी का सहारा लेना पड़ा। यह बड़ा काम है और मैं आशा रखता हूँ कि इस प्रान्त के लोग भी और विशेष करके ऐसे लोग जो इस संस्था से सम्बद्ध हैं इस पर ध्यान देंगे और जहाँ आवश्यकता होगी इस काम को करेंगे।

आप यह न समझ कि भारत स्वतन्त्र हो गया है तो उसकी सारी समस्यायें ही सुलभ गई हैं। समस्यायें ज्यों-की-त्यों पड़ी हैं। जब हम स्वतन्त्र हुए तो उसके साथ ही विपत्तियाँ भी हमारे ऊपर आईं और हमने उनका मुक्काबला किया। उनकी सँभालने में ही हमारी अब तक सब शक्ति गई है और अभी हम पार भी नहीं हो पाये हैं मगर हमें उनसे घबराना नहीं है। कोई भी बड़ी क्रान्ति होती है तो उसमें कितने ही वर्ष स्थिति को सँभालने में लग जाते हैं। अमेरिका जब स्वतन्त्र हुआ तो न मालूम कितने वर्ष उसे अपने को सँभालने में लगे। अभी हाल में जो क्रान्तियाँ हुई हैं उनमें भी लोगों को अपने को सँभालने में बहुत समय लगा है। हमारे देश की क्रान्ति दूसरे ढंग को क्रान्ति रही है और दूसरे देशों की क्रान्ति से भिन्न रही है। और देशों में क्रान्तियाँ लड़-भिड़कर की गई हैं और उनके सामने हिंसा-अहिंसा का कोई प्रश्न नहीं रहा है। इसलिए अपने समाज के संगठन में भी उनके सामने कोई इस तरह की नैतिक कठिनाई नहीं आई। नैतिक कठिनाई का अगर नैतिक दृष्टि से न देखा जाय और काम की ही दृष्टि से देखा जाय तो हमको मानना ही पड़ेगा कि हमने महात्मा जी के नेतृत्व में जो रास्ता अख्तियार किया उस रास्ते पर चलकर हम आसानी से स्वराज्य प्राप्त कर सके। एक बहुत बड़ी शक्ति का हमने मुक्काबला किया और कोई कह नहीं सकता कि किस तरह से वह शक्ति कहीं चली गई और उसकी जगह किस तरह से और कब हम प्रतिष्ठित हो गये। इसका महत्त्व शायद आज न मालूम होता हो मगर आज से कुछ दिनों के बाद जब इतिहास लेखक इस समय के इतिहास को देखेंगे और लिखेंगे, इस समय जो कुछ हुआ है उस पर विचार करेंगे तो उनको अचम्भा होगा कि ऐसे लोग जिनके हाथों में हथियार नहीं थे इतनी बड़ी शक्ति का जो संकड़ों वर्षों से खड़ी थी कैसे मुक्काबला कर सके और सिर्फ यही नहीं कि अपने को उठा सके, बल्कि उस शक्ति को हटाकर अपने को प्रतिष्ठित कर सके। यह सब कैसे हुआ ? महात्मा जी ने जो रास्ता बताया था और उस रास्ते पर जो हम थोड़ा-बहुत चले थे, उसी का यह फल है। आज कुछ लोग सोचते हैं कि उससे अन्य रास्ते पर चलकर वे अधिक तेजी दिखला सकते हैं और जो कुछ हासिल करना है कर सकते हैं। मगर मेरा विश्वास है कि वैसा करके वे भूल करेंगे और जल्दी के बदले देर करेंगे। पुरानी कहावत है कि एक वर्ष का रास्ता अच्छा मगर छः महीने का रास्ता ठीक नहीं। महात्मा जी का रास्ता देखने में एक वर्ष का रास्ता मालूम पड़ सकता है और दूसरा रास्ता छः महीने का मालूम पड़ सकता है। मगर अनुभव बतलाता है कि वह एक वर्ष का रास्ता आसान रास्ता था। छः महीने के रास्ते पर चलने से न मालूम कितने महीने लग सकते हैं। जिस रास्ते का हमने अवलम्ब लिया है उस पर चलकर यदि हम अभी तक अपना कार्य नहीं कर पाये तो कोई घबड़ाने की बात नहीं है। तीन वर्ष

का समय किसी भी राष्ट्र के लिए कोई बहुत बड़ा समय नहीं है। जैसा मैंने पहले कहा है, जिन देशों में क्रान्तियाँ हुई हैं वहाँ एक प्रकार से पहले की चीजों को अलग फेंककर उनको तोड़-ताड़ दिया गया है और उनके स्थान पर नयी चीजें क्रायम की गई हैं। उनको भी कुछ समय लगा है। हमें अपनी पुरानी संस्थाओं को क्रायम रखना है। उसी में उथल-पुथल करके हम अपना काम चला रहे हैं। हमारे सामने कोई खाली मैदान नहीं है कि हम अपनी इच्छानुसार जो कुछ चाहें बना लें। हमको पुरानी चीजों को रखकर इस तरह से बनाना है कि यह मालूम न हो कि हम कुछ तोड़-फोड़ कर रहे हैं। हमको यह दिखलाना है कि हम किस तरह अपना काम ले सकते हैं और अपने को योग्य बना सकते हैं। मेरा ख्याल है कि इसी पर चलकर हम जल्द-से-जल्द जहाँ हमें पहुँचना है वहाँ पहुँच सकते हैं। दूसरे रास्ते पर चलकर कठिनाइयों का मुक्ताबला करना होगा और इसमें भी शक है कि हम अपने ध्येय तक पहुँच सकेंगे।

यहीं पर साहित्य और भाषा का प्रश्न आता है। मैंने कहा कि साहित्य में नहीं जानता हूँ और मुझे उसका अध्ययन करने का समय भी नहीं मिला है, पर तो भी मैं समझता हूँ कि साहित्य ऐसा होना चाहिए जो विध्वंस की तरफ न ले जाकर बनाने की ओर ले जाय। बिगाड़ना आसान होता है पर बनाने में बड़ी शक्ति लगती है, बुद्धि लगती है और बहुत समय लगता है। साहित्य का रख सृजन की तरफ रखना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि साहित्यिक लोग इस तरफ बढ़ें और हमारा दिग्दर्शन करें, तभी हम बढ़ सकते हैं। मैं आशा करता हूँ कि हमारे देश के जो लोग आज स्वतन्त्र हुए हैं वे अपनी इस महत्त्वाकांक्षा को पूरा कर सकेंगे, इसे समझेंगे और अपनी जवाबदेही को भी समझेंगे।

इस देश को हमने स्वतन्त्र कर दिया, लेकिन देश को स्वतन्त्र कर लेना ही काफ़ी नहीं है। हमने जो स्वप्न देखे थे और स्वतन्त्र भारत का जैसा चित्र अपने सामने रखा था, जिसमें न बीमारी हो न दुःख-दारिद्र्य हो और न अशिक्षा, उसको हम पूरा नहीं कर सके हैं। इसके लिए तपस्या और त्याग की जरूरत है। मुझे यह आशा है कि जिस तरह से ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ संघर्ष के ज़माने में हम सब कुछ करने के लिए तैयार थे और गान्धी जी के बताये मार्ग के अनुसार चलकर अपने को आगे बढ़ा रहे थे उसी तरह अब जो रचनात्मक काम करना है, नये समाज के संगठन का काम करना है, उसमें भी हम त्याग करने के लिए तैयार हो जायेंगे और वह काम पूरा कर लेंगे। मैं यह भी मानता हूँ कि यह काम उससे अधिक कठिन होता है। विध्वंस का काम हम खत्म कर चुके हैं और अब हमें सृजन का काम करना है। हिन्दुस्तान को हमें बनाना है। अगर हम में से प्रत्येक मनुष्य यह सोचे कि हमें इसे बनाना है और अपनी तरफ नहीं, बल्कि सारे संसार के कल्याण और तरक्की की

तरफ़ ध्यान देना है तो अपने देश का और सारे संसार का हम कल्याण कर सकेंगे । हमने अगर स्वार्थी और अदूरदर्शी लोगों को पैदा किया तो देश और संसार दोनों का अहित होगा । इसमें सबसे बड़ा भाग विद्यालयों का है कि वे अच्छे-से-अच्छे नागरिक तैयार करें ।

महात्मा जी कहा करते थे कि कोई भी गवर्नमेण्ट क्यों न हो, वह स्वयं सुधार का काम नहीं कर सकती । यह तो गैर-सरकारी संस्थाओं का ही काम होता है कि उसे रास्ते पर चलने के लिए मजबूर करें । मगर आप शिक्षा-सम्बन्धी सुधार चाहते हैं और मैं मानता हूँ कि आज शिक्षा में सुधार की जरूरत है । इसके लिए आपको लोकमत तैयार करना चाहिए । यह काम गवर्नमेण्ट करेगी । मगर यह गैरसरकारी संस्थाओं का काम है कि वे अपनी सेवा से, अपनी सफलता से और अपने प्रयोगों से उसको रास्ता बतलावें और उसको मजबूर करें कि जो चीज़ बेहतर है उसको वह अपनावे । मैं आशा करता हूँ कि जहाँ-जहाँ इस तरह की संस्थाएँ काम कर रही हैं, वे इस दिशा में अग्रसर होंगी और ऐसा करने में उनको कठिनाइयाँ भेलनी पड़ें तो भेलती रहेंगी, अपने काम में लगी रहेंगी और नये प्रयोगों को लाकर गवर्नमेण्ट को दिखलाती रहेंगी । अब प्रजातन्त्र कायम हो जाने के बाद गवर्नमेण्ट ऐसी होगी जो जनता की इच्छा के अनुसार काम करेगी । ऐसी अवस्था में यह हमारा काम है कि लोगों को इस तरफ़ आकर्षित करें और गवर्नमेण्ट को प्रभावित करें ।

मैं रास्ते में आ रहा था तो एक जगह कुछ लड़कों को कहते सुना कि देवघर में कॉलेज होना चाहिए । मगर मैं कहूँगा कि कॉलेज होना काफ़ी नहीं है । कॉलेज में आज क्या होता है, उसको भी देखना चाहिए । अगर आज शिक्षा-सुधार की जरूरत है तो इसलिए कि अब नयी रीति से काम करना है और सुधार के रास्ते पर चलना है । मैं आपको हतोत्साह नहीं करना चाहता हूँ । अगर गवर्नमेण्ट चाहेगी तो देवघर में कॉलेज स्थापित हो जायगा । मगर मैं कहूँगा कि उतने ही से सन्तोष नहीं मानना चाहिए । आज लोगों में नवजीवन और नयी शक्ति पैदा करनी है । मैं इस बात को मानता हूँ कि यूनिवर्सिटियाँ जिस ध्येय को लेकर कायम की गईं, अभी उसी पर चल रही हैं । अपने लिए उन्होंने कोई नया रास्ता नहीं निकाला है । हम को अब नये रास्ते पर चलना है । मैं चाहता हूँ कि इस पर गवर्नमेण्ट भी विचार करे और जनता भी विचार करे और कोई नया रास्ता ढूँढ़ निकाला जाय । पश्चिम की चीज़ों को आँख मूंदकर हमें नहीं अपनाना है और न अपनी पुरानी चीज़ों को पुरानी लकीर कहकर फेंकना है । हमें सभी जगह से अच्छी चीज़ों को लेना है । मैं चाहता हूँ कि लोग इस बात से घबरा न जायें कि अगर किसी से कह दिया गया कि वह प्रगतिशील नहीं है तो वह हमेशा के लिए निन्दा का पात्र बन जायगा । मैं सच्ची प्रगति उसको

मानता हूँ जिसमें मानव-जाति का कल्याण हो। आज कल्याण किसमें है, इस पर भी मतभेद हो सकता है। मतभेद तो मनुष्यमात्र के हृदय में है और जब तक लोगों में सोचने की शक्ति रहेगी, मतभेद रहेगा ही। मगर हमको अपनी बुद्धि लगानी है, अपना मस्तिष्क लगाना है और देखना है कि संसार का कल्याण किसमें है। आज हम देखते हैं कि शान्ति की बातें सभी करते हैं मगर शान्ति को अशान्ति के द्वारा क्रायम करना चाहते हैं। इस तरह हम कीचड़ को कीचड़ से धोना चाहते हैं। यह सम्भव नहीं है। इसलिए जरूरी है कि साफ़ पानी से कीचड़ को धोयें और बुराई का मुक्काबला साफ़ दिल से करें। इसके लिए बड़े परिश्रम की जरूरत है और परिश्रम से अधिक तपस्या की जरूरत है। मैं आशा करता हूँ कि नवभारत अपनी शक्ति से दूसरों को भी प्रभावित कर सकता है और उसका यह कर्तव्य है कि संसार के सामने ऐसी प्रवृत्ति पैदा करे कि संसार देख सके कि वह सचमुच ठीक रास्ते पर है। महात्मा गान्धी जी ने जो नया रास्ता हमें बतलाया उसी पर चलकर कुछ हद तक हम आगे बढ़े। अब हमको उसी पर आगे चलना है और वही संसार के लिए नया रास्ता है। मेरा विश्वास है कि संसार उसको मानेगा और उस पर चलेगा। इसलिए मैं यह कहना चाहता हूँ कि आज भारतवर्ष पर बड़ी जवाबदेही आ गई है और ईश्वर से प्रार्थना है कि वह हमको बल दे कि हम उस जवाबदेही को निभा सकें। इसके लिए हमको तैयार होना है। इसके लिए त्याग जरूरी है। भारत अपने कल्याण के साथ-साथ सारे संसार का कल्याण करे, यही हमारी आशा और ईश्वर से प्रार्थना है।

विद्यार्थी और राजनीति

प्रायः तीन महीने हुए किसी भाई ने कहा था कि बिहारी छात्र-सम्मेलन को फिर से जिलाने की कोशिश की जा रही है। मैं तो ऐसा ही मौक़ा तलाश कर रहा था कि मुझे मौक़ा मिले तो मैं अपनी सफ़ाई दे सकूँ और जैसा कि अभी मैं बिहार के छात्रों में अछूता समझा जाता हूँ वंसा न रहूँ। वर्तमान दशा के लिए मैं किसी की शिकायत करना नहीं चाहता। मैं शुरू से इसकी कार्यवाहियों को देखता रहा हूँ और इसकी हर बात को अधिक गौर और ध्यान से सुनता रहा हूँ। जिस समय यह कॉन्फ़ेंस ख़ूब जोरों पर चल रही थी उस समय मैं इसकी पूरी सेवा करता रहा और उस समय भी इसकी बातों को सुनता रहा और कार्यवाहियों को देखता रहा। किसी बात में भी मैंने बेवजह जोर नहीं लगाया था। कहीं भी दखलअन्दाजी नहीं की थी। स० १९२१ की बैठक में जब बाबू जगधरप्रसाद जी इसके सभापति थे तब मुझे स्वागत-समिति का अध्यक्ष बनाया गया था और यहाँ पर उपस्थित कितने ही भाई उस समय भी शरीक हुए थे। मैं उस समय केवल भाइयों के स्वागत में ही लगा हुआ था। सभी भाई आज्ञादा थे। मैंने उस आज्ञादी में रुकावट नहीं दी थी। छात्र-सम्मेलन को सूबे के विद्यार्थियों ने कायम किया है और उसे चलाने या मिटाने का भार उन्हीं पर है। मैं नहीं चाहता कि उनके प्रोग्रामों पर असर डालूँ या कोई हानिकर काम कर दूँ। मैं चुपचाप बैठा रहा; जो प्रस्ताव पास हुए उन्हें सुनता रहा और अन्त में कहा कि जो कुछ आप लोगों ने किया वह अच्छा ही किया। आज की बैठक में भी उसी तरह बैठे-बैठे देखता रहा कि आप लोगों के विचार में परिवर्तन है कि नहीं; आपकी कार्रवाई, आपके प्रस्ताव और व्यापारों को देखते और सुनते रहकर अपने दिल में बराबर सोचता रहा कि क्या कहूँ और क्या नहीं कहूँ। सुबह बोलने का वादा किया था पर अब तक ठीक नहीं कर सका कि क्या कहूँ। इसका कारण आप ही अपने दिल से पूछें। मैं अपने दिल के भावों को आपके सामने इस तरह से रखूँगा कि आप उनसे लाभ उठाएँ। सभापति जी ने कहा कि इस सम्मेलन की नींव देश-भक्ति पर है और जब तक यह भाव नहीं होगा तब तक यह कॉन्फ़ेंस नहीं बच सकेगी। ठीक है, इस कॉन्फ़ेंस का बड़े-से-बड़ा मक़सद यही है कि इसके जरिये ऐसे

नौजवानों को तैयार किया जाय जो समय आने पर किसी काम से मुंह न मोड़ें। आज फिर पुनर्जन्म देकर जो कॉन्फ्रेंस आप संगठित कर रहे हैं, क्या मैं पूछ सकता हूँ कि इसका भी फल पूर्ववत् होगा ? मैं इसका उत्तर बड़ों से नहीं चाहता। इसका उत्तर इस संस्था के संचालक या कॉलेज के विद्यार्थी ही दें। कहा जाता है कि हम लोग राजनीति (पॉलिटिक्स) नहीं चाहते। तब आप कहें कि राजनीति किसे कहते हैं ? क्या देशी कपड़ा पहनना राजनीतिक बातों में शामिल है ? बहूतों के लिए यह भयानक पॉलिटिक्स है। इस सभा को देखकर जान पड़ता है कि मैं पाँच वर्ष पहले की दुनिया में आ पड़ा हूँ। चारों ओर भलमल के कपड़ों की चमचमाहट है, चारों तरफ शौक्रीनी से भरे वस्त्र और शौक्र की सामग्री नजर आती है। हिन्दुस्तानी भाषा को मानो निकाल बाहर किया गया है। मुझे इस सभा के सदस्यों के मौजूदा ख्याल का अन्दाजा कुछ भी मालूम नहीं पड़ता। कुछ बड़े लोग मोटे कपड़े में हैं, पर विद्यार्थियों के बारीक कपड़े मेरे लिए दुःखदायी हो रहे हैं। आज मैं असहयोग की लहर के समय के उन भाइयों को देखता हूँ जो मेरे पास गये थे। आज वे मेरे साथ नहीं हैं। चाहे वह दुःख से और चाहे घर के दबाव से लौट गये हों, इसके लिए मुझे शिकायत नहीं, पर इन भाइयों ने लौटकर अपने भावों और वेशभूषा को ऐसा क्यों बना लिया, मानो वे किसी गड्ढे से बाहर निकलकर अपने बदन के कीचड़ को धोकर साफ़ हो गये हों। मेरी भक्ति, मेरी तारीफ़, मेरी बातों पर ताली बजाना यह सब कुछ तो यहाँ है, पर मैं चाहता हूँ कि देश-प्रेम की बातों को भी याद रखा जाय। गवर्नमेण्ट स्कूल के छात्र भी देश का दायित्व अपने ऊपर समझें, क्योंकि वे उससे बरी नहीं हैं। वह यह न समझें कि मुझ से अलग हो गये तो सब दावा खत्म हो गया। कोई भी हिन्दुस्तानी कहीं भी हो, उसका फ़र्ज है कि हिन्दुस्तान की सेवा करे। ऐसी सेवा उसका धर्म है। यदि आदर्श ऊँचे नहीं होते तब सम्मेलन न करना ही अच्छा है। यहाँ यह आदर्श होना चाहिए कि दिल, दिमाग़ और चरित्र में आप किसी से कम न हों और तालीम पाकर निकलने पर आप पर चाहे कितने ही सख्त क्रायदों का दबाव क्यों न हो, आप मर्दानगी के साथ काम में लग जायँ। आप चाहें तो इस समय भी बहुत से काम कर सकते हैं। कुछ ही दिन हुए कि आप ही के साथी कितनी ही रात्रि-पाठशालाओं को चलाकर अपने श्रमजीवी मजदूर भाइयों को शिक्षा देते थे। हैमिलटन साहब ने कहा है कि स्वायत्त शासन में भी आप मदद दे सकते हैं। मैं नहीं चाहता कि आप वोट-संग्रह करने जायँ। आप यहाँ के १२ हजार अछूत भाइयों को कुछ विद्या पढ़ाकर उनका उद्धार कर सकते हैं। अपनी विद्या में जितनी चाहे तरक्की करते जाइये, पर साथ-ही-साथ सेवा-धर्म भी अवश्य सीखते जाइये। गृहस्थ के लड़के पहले से शिक्षा पाते हैं और तभी वे सादा-से-सादा काम जैसे हल चलाना, बीज डालना वगैरह कर सकते हैं।

परोपकार के लिए तालीम की जरूरत है। मैं आपको राजनीतिक धन्धों में लगाना नहीं चाहता। पर यदि आप रात्रि-पाठशाला में काम करें तो किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

बहुत से लोग कपड़े पहनने को और अछूतोद्धार को भी पौलिटिक्स कहेंगे। आपके भाई आपस में दुनिया की हालत पर बातें करें या सर्वे और पत्रिका आदि अखबारों को पढ़ें और उसे भी पौलिटिक्स बताएँ, तब तो ऐसे विचारों को गंगा में डुबो दीजिए। आप इन सब बातों को अपने जीवन से नहीं हटा सकते। तब पौलिटिक्स क्या होती है? क्या कांग्रेस में स्वयंसेवक बनकर भाइयों की खाट उठाना, उनकी सेवा व महात्मा गान्धी के दर्शन करना भी पाप है? आप राजनीतिक प्रश्नों पर अपने विचार बाहर प्रकट नहीं कर सकते, पर अपनी सोसायटी में वाद-विवाद कर सकते हैं कि असहयोग या कौन्सिल में प्रवेश बुरा है या भला। इंग्लैंड में विद्यार्थी राजनीतिक मत रखने वाली दलबन्धियों के लिए वोट-संग्रह करते हैं, पर मैं ऐसा नहीं चाहता। इंग्लैंड में विद्यार्थियों के पुस्तक-पाठ का दायरा (या वृत्त) कम है, पर कार्य-क्षेत्र फैला हुआ है। भारत के विद्यार्थियों का दुर्भाग्य है कि यहाँ भात-रोटी खाना और कपड़ा पहनना राजनीति कहलाता है। आप जो पढ़ना चाहें, पढ़ें, पर ध्येय यही रखें कि जब छूटें तब जिस काम में लगे उसे अच्छी तरह से कर सकें। मैं चाहता हूँ कि जब भी मौका मिले तभी आपके दिमाग में उन्नति का (सेरम) डाल सकूँ। अन्त में मैं कह देना चाहता हूँ कि दुनिया के बड़े-बड़े काम उन्हीं ने किये हैं जिनमें प्रतिभा की अधिकता थी। मैं चाहता हूँ कि आप भी उसी भाव से उन्नत होकर विद्या पूर्ण करने के बाद मेरी ही तरह कार्य-क्षेत्र में आ जायें।

